पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

लेखक
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए. पी.एच.डी.

प्रकाशक
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५

प्रथम संस्करण	६, १००	(वीतराग-विज्ञान विशेषांक के रूप में) ६ दिसम्बर, १९९० ई.
द्वितीय संस्करण	१५, २००	(पंचकल्याणक के अवसर पर) २१ दिसम्बर, १९९० ई.
योग	२१, ३००	

मूल्य : तीन रुपये

मुद्रक:
[illegible] ऑफसैट प्रिन्टर्स
जौहरी बाजार, जयपुर।

विषय सूची

प्रकाशकीय

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा आयोजित श्रीआदिनाथ दिगम्बर जिनपंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के मंगल अवसर पर डॉ. भारिल्ल की नवीनतम कृति "पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव" को प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। प्रतिष्ठा समिति के अनुरोध पर उन्होंने अत्यन्त व्यस्तता के बावजूद एक माह के अत्यल्प काल में ही यह कृति तैयार कर दी है, तदर्थ प्रतिष्ठा समिति उनका हार्दिक आभार मानती है।

श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट द्वारा श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर में संचालित श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के भूतपूर्व छात्र एवं पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से सम्बन्धित विद्वानों द्वारा अबतक लगभग 30 पंचकल्याणक प्रतिष्ठायें भारत के विभिन्न प्रान्तों में कराई जा चुकी हैं।

उक्त सभी प्रतिष्ठाओं में डॉ भारिल्ल प्रवचनार्थ जाते रहे हैं। उक्त प्रतिष्ठाओं में हुए उनके प्रवचनों की लोकप्रियता को देखते हुए उक्त प्रवचनों को प्रकाशित करने की मांग निरन्तर बनी हुई थी, पर कैसेटों में बन्द वे प्रवचन, जबतक कागज पर नहीं आ जाते तबतक उनका प्रकाशित होना सम्भव नहीं था।

हम चाहते थे कि वे प्रवचन डॉ. भारिल्ल की लेखनी से ही लिपिबद्ध हों, इसकारण बात टलती ही रही। जब जयपुर प्रतिष्ठा का समय आया तो इस ओर विशेष ध्यान गया। परिणामस्वरूप यह कृति आपके समक्ष प्रस्तुत है।

इस कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह कृति उसी रूप में व्यवस्थित की गई है कि जिस रूप में वे प्रवचन करते हैं, अतः इसमें सर्वत्र सरलतम आकर्षक प्रवाह दृष्टिगोचर होता है।

पाठकों से भी अनुरोध है कि वे इसे इस रूप में ही पढ़ें कि मानो वे पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के पंडाल में बैठे-बैठे उनके प्रवचन साक्षात सुन रहे हैं।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा समिति के अनुरोध पर वीतराग-विज्ञान एवं जैनपथ प्रदर्शक ने इस अवसर पर अपने पंचकल्याणक विशेषांक निकालने का निर्णय

लिया था। तदनुसार तैयारी भी हो रही थी, पर बीच में ही यह विचार आया कि दोनों ही पत्रों मे एक सी सामग्री देने में कोई लाभ नहीं है। अतः यह निर्णय लिया गया कि विविध स्रोतों से प्राप्त सामग्री को तो जैनपथ प्रदर्शक में दी जावे और वीतराग-विज्ञान के एक ही अंक में यह कृति प्रकाशित की जावे, जिससे पंचकल्याणक के पूर्व ही यह कृति जन-जन के हाथों में अखण्ड रूप से पहुँच जावे।

विशेषांकों के प्रकाशन की जो परम्परा चल रही है, यह विशेषांक उनसे कुछ हटकर है, तथापि हमारी दृष्टि में इसकी इस रूप में उपयोगिता अधिक प्रतीत हुई; क्योंकि परम्परागत विशेषांकों की समस्त सामग्री तो पाठकों को जैनपथ प्रदर्शक के माध्यम से प्राप्त हो ही रही है। दोनों पत्रों के पाठक लगभग एक ही हैं, अतः पुनरावृत्ति से कोई लाभ नहीं था।

प्रतिष्ठा में आने वाले लोगों में ऐसे भी हजारों लोग होंगे, जो वीतराग-विज्ञान के ग्राहक नहीं होंगे, उन तक यह कृति पहुँचाने के उद्देश्य से इस कृति का पन्द्रह हजार दो सौ का यह पुस्तकाकार संस्करण भी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर ही उपलब्ध कराया जा रहा है।

डॉ. भारिल्ल की अन्य कृतियों के समान ही यह कृति भी लोकप्रिय होगी। जिसप्रकार "धर्म के दशलक्षण" की माग प्रत्येक दशलक्षण पर्व पर बढ़ जाती है, उसीप्रकार पंचकल्याणोपयोगी होने से इसकी मांग प्रत्येक पंचकल्याणक में होगी। दशलक्षण महापर्व तो वर्ष में एक बार ही मनाया जाता है, पर पंचकल्याणक तो वर्ष में बीसों होते हैं, जिनमें चार-पांच पंचकल्याणक तो हमारे सहयोगी विद्वानों द्वारा ही कराये जाते हैं। अतः यह कृति भी कभी पुरानी पड़ने वाली नहीं है, इसकी मांग निरन्तर बनी रहना है।

जिस तेजी से डॉ. भारिल्ल ने इसे तैयार कर दिया, उसी तेजी से हमारे प्रकाशन विभाग के व्यवस्थापक श्री अखिल बंसल ने इसे छपाने में तेजी से काम किया है, उनकी सक्रियता और श्रम का ही यह परिणाम है कि यह कृति इस मंगलमय अवसर पर आपके हाथों में है। तदर्थ उन्हें जितना भी धन्यवाद दिया जाय कम है।

नेमीचन्द पाटनी

१६ दिसम्बर, १९९० ई.　　महामंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,

जयपुर

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

पहला दिन

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव जैनसमाज का सर्वाधिक महत्वपूर्ण नैमित्तिक महोत्सव है। इसका आयोजन एक विशाल मेले के रूप में होता है, इसमें देश के कोने-कोने से लाखों जैन भाई और बहिनें एकत्रित होते हैं। लगातार आठ दिन तक चलने वाले इस विशाल मेले की तैयारियाँ कुंभ मेले के समान महिनों पहिले से चलती हैं।

यह महोत्सव अन्य लौकिक मेलों के समान आमोद-प्रमोद का मेला नहीं है, यह एक विशुद्ध आध्यात्मिक मेला है; जिसके साथ सम्पूर्ण जैन समाज की आस्थाएँ और धार्मिक भावनाएँ जुड़ी रहती हैं। इसमें खान-पान और खेलने-कूदने की प्रधानता नहीं रहती; अपितु संयम और तप-त्याग की प्रधानता होती है, वातावरण एकदम आध्यात्मिक बन जाता है।

जिसप्रकार हम अपने पारिवारिक पूर्वजों की स्मृति को चिरस्थाई बनाने के लिए, उनके चित्र अपने घरों में लगाते हैं; अथवा अपने राष्ट्रीय नेताओं की स्मृति बनाये रखने के लिए, उनके चित्र या स्टेच्यू समुचित राष्ट्रीय महत्व के स्थानों पर लगाते हैं, स्थापित करते हैं; यथावसर माल्यार्पण आदि के द्वारा उनका सन्मान करते हैं; उसीप्रकार अधिकांश धर्मों में अपने धर्मपूर्वजों, धार्मिक नेताओं, तीर्थंकरों एवं भगवानों की तदाकार मूर्तियाँ मन्दिरों में प्रतिष्ठापित की जाती हैं।

जैनधर्मावलम्बी भी तीर्थंकरों की तदाकार मूर्तियाँ जिन-मन्दिरों में प्रतिष्ठापित करते हैं, स्थापित करते हैं। इस परमपावन भारतवर्ष में हजारों जिनमन्दिर हैं और उनमें लाखों जिनबिम्ब (मूर्तियाँ) विराजमान हैं; जिनके दर्शन, पूजन और भक्ति प्रतिदिन लाखों जैन भाई-बहिन करते हैं। लाखों लोग तो ऐसे हैं, जो उनके दर्शन बिना, उनकी पूजन बिना भोजन भी नहीं करते।

जिनमन्दिरों में विराजमान जिनबिम्बों का अपना एक महत्व है। वे जिनबिंब हमारी संस्कृति के प्रतीक ही नहीं, संरक्षक भी हैं। सम्पूर्ण देश में

बिखरे हुए लाखों जिनबिंब हमारे समृद्ध अतीत के सबूत तो हैं ही, यह भारत हमारी मूल भूमि है, इसके भी सशक्त प्रमाण हैं।

पाषाणों में उत्कीर्ण या धातुओं से ढले ये वीतरागी जिनबिंब (मूर्तियाँ) तबतक पूजने योग्य नहीं माने जाते, जबतक कि उनकी विधिपूर्वक प्रतिष्ठा नहीं हो जाती। इसी प्रतिष्ठाविधि को सम्पन्न करने के लिए जो महोत्सव होता है, उसे पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव कहते हैं।

यह पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया का महोत्सव है। इस महोत्सव में पंचकल्याणक सम्बन्धी क्रिया-प्रक्रियाओं के माध्यम से आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया का प्रदर्शन होता है, विद्वानों के प्रवचनों के माध्यम से समागत श्रद्धालुओं को आत्मा से परमात्मा बनने की विधि बताई जाती है।

विश्व के समस्त दर्शनों में जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जो यह कहता है कि प्रत्येक आत्मा स्वयं परमात्मा है। अपना यह आत्मा स्वभाव से तो परमात्मा है ही, यदि स्वयं को जाने, पहिचाने और स्वयं में ही जम जावे, रम जावे; तो प्रकट रूप से पर्याय में भी परमात्मा बन सकता है।

हमारे चौबीसों ही तीर्थंकर अपनी पिछली पर्यायों में हमारे समान ही पामर पर्यायों में थे; पर उन्होंने स्वयं को जाना, पहिचाना, स्वयं का अनुभव किया; स्वयं में ही समा गये; परिणामस्वरूप तीर्थंकर बने, सर्वज्ञ हुए। भले ही इस प्रक्रिया के सम्पन्न करने में उन्हें दश-पाँच भव लग गए हों; पर उन्होंने अपने परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर ही लिया।

भगवान महावीर ने यह महान कार्य अपने दश भव पहले शेर की पर्याय में आरम्भ किया था और भगवान पार्श्वनाथ ने यह कार्य हाथी की पर्याय में आरम्भ किया था। इससे सिद्ध होता है कि **जैनदर्शन मात्र नर से नारायण बनाने वाला दर्शन नहीं, अपितु पशु से परमेश्वर बनाने वाला वीतरागी दर्शन है।**

पंचकल्याणक वे महान् क्रान्तिकारी घटनाएँ है, जो प्राय: प्रत्येक तीर्थंकर के जीवन में घटित होती हैं और उनके परमकल्याण का कारण बनती हैं।

यद्यपि कतिपय तीर्थंकरों के जीवन में दो या तीन ही कल्याणक होते हैं, पर यह बात अपवाद के रूप में ही समझना चाहिए। ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त भरतक्षेत्र के सभी तीर्थंकरों के पाँचों ही कल्याणक हुए हैं, अतः मूर्तियों की प्रतिष्ठा के लिए पंचकल्याणक महोत्सव ही होते हैं, दो

कल्याणक महोत्सव या तीन कल्याणक महोत्सव नहीं।

देश या विदेशों में विद्यमान जिनालयों में जितने भी जिनबिंब विराजमान हैं, वे सभी इन पंचकल्याणकों में ही प्रतिष्ठित हुए हैं और भविष्य में भी जितने जिनबिंब विराजमान होंगे, वे सब भी इसी विधि से विराजमान होंगे। इसप्रकार यह महोत्सव एक अत्यन्त आवश्यक महोत्सव है। इसका सर्वथा निषेध करना श्रमण संस्कृति के लिए घातक भी हो सकता है।

हाँ, यह बात अवश्य है कि जहाँ पहले से ही अनेक जिनालय विद्यमान हैं, उनमें अनेकानेक जिनबिंब विराजमान हैं, वहाँ बिना आवश्यकता के मात्र अपने मान पोषण के लिए मन्दिर बनाना, उसमें जिनबिंब विराजमान करना, तदर्थ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव कराना अवश्य अनावश्यक है।

इसप्रकार के उत्सवों को अवश्य हतोत्साहित किया जाना चाहिए, पर जहाँ जिनालय हों ही नहीं, वहाँ तो उनका बनाना अत्यन्त आवश्यक है, उनमें जिनबिंबों का विराजमान करना भी जरूरी है और तदर्थ पंचकल्याणक भी आवश्यक है ही।

क्या विदेशों में बन रहे मन्दिर भी अनावश्यक हैं ? पूरे काठियावाड़ में एक भी ढंग का दिगम्बर जिनमन्दिर नहीं था और आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी के पुण्यप्रताप से वहाँ लाखों नये दिगम्बर जैन बने और उन्होंने अपने-अपने नगरों में अनेक दिगम्बर जिनमन्दिर बनवाये। क्या इन जिनमन्दिरों का निर्माण भी अनावश्यक था ? क्या वहाँ होने वाले पंचकल्याणक भी अनावश्यक थे ?

इसीप्रकार प्रत्येक नगर में नई-नई कालोनियाँ बन रही हैं, जिनमें सैकड़ों जैन परिवार भी बसते जा रहे हैं। मुख्य नगर से मीलों दूर बनने वाले इन उपनगरों में भी जिनालयों का निर्माण अत्यन्त आवश्यक है, तदर्थ पंचकल्याणक भी आवश्यक ही हैं।

न तो नये बनने वाले प्रत्येक जिनमन्दिर का निषेध ही आवश्यक है और न बिना विचारे समर्थन करना ही ठीक है। इसीप्रकार न तो प्रत्येक पंचकल्याणक का विरोध उचित है और न ही बिना समझे समर्थन करना ठीक है। प्रत्येक के सम्बन्ध में व्यक्तिगत रूप से गुण-दोष के आधार पर सहमति और असहमति व्यक्त की जानी चाहिए।

देश की बढ़ती हुई जनसंख्या को देखकर जहाँ एक ओर अधिक संतान पैदा करने वालों को परिवार नियोजित करने के लिए प्रेरित किया जाता है,

उनके लिए सरकार की ओर से जिस अस्पताल में परिवार नियोजन की सब सुविधाएँ जुटाई जाती हैं, वहीं दूसरी ओर उसी अस्पताल में उनका भी इलाज किया जाता है, जिनके सन्तान नहीं होती; क्योंकि जिनके एक-दो सन्तानें हैं, उन्हें तो अधिक सन्तानें आवश्यक नहीं हैं, पर जिनके संतान हैं ही नहीं, उन्हें तो संतान चाहिए ही।

जिसप्रकार परिवार नियोजन के मामले में सरकार ने सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाया है, उसीप्रकार हमें भी जिनमन्दिर निर्माण और पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं के सन्दर्भ में सन्तुलित दृष्टिकोण बनाना चाहिए।

बढ़ती हुई जनसंख्या से घबड़ाकर यदि सरकार 25-30 वर्ष के लिए सन्तानें पैदा करने पर पूर्णतः प्रतिबन्ध लगा दे तो उसका क्या दुष्परिणाम होगा ? क्या आप यह भी जानते हैं ?

आरम्भ के 25-30 वर्ष तक यदि कोई बालक न रहेगा तो उसके बाद के वर्षों में जवान कहाँ से आवेंगे ? जब जवान ही न होंगे तो फिर दुबारा उत्पत्तिक्रम भी कैसे संभव होगा ? यह तो सर्व विनाश का अविवेकपूर्ण रास्ता है, जिसे कोई भी समझदार व्यक्ति नहीं अपना सकता।

इसीप्रकार मन्दिरों, मूर्तियों और पंचकल्याणकों की अधिकता देखकर इन पर पूर्णतः प्रतिबन्ध लगाना समझदारी का काम नहीं है। क्या आप यह पसन्द करेंगे कि हमारी भावी पीढ़ियाँ एवं इतिहासकार हमारे युग को इस रूप में याद करें कि यह एक ऐसा युग था कि जब भोग के मन्दिर तो अनेक बने, पर योग का मन्दिर एक भी न बना; भोग के उत्सव तो प्रतिवर्ष लाखों हुए, पर योग का उत्सव एक भी न हुआ।

स्वर्णयुग के रूप में तो हम उस युग को ही याद करते हैं कि जिस युग में देवगढ़ जैसे देवों के गढ़ बने। इस बात पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है और गुणदोष के आधार पर संतुलित दृष्टिकोण अपनाने की परमावश्यकता है।

आवश्यकतानुसार ही होने वाले जिनमन्दिरों के निर्माण और पंचकल्याणकों पर प्रतिबंध लगाने के स्थान पर उनमें समागत विकृतियों का परिमार्जन किया जाना अधिक जरूरी है, उनका उपयोग वीतरागी धर्म के समुचित प्रचार-प्रसार में किया जाना ही सही मार्ग है। नकारात्मक रास्ता चुनने के स्थान पर रचनात्मक रास्ता चुनना ही श्रेयस्कर है।

आज पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव का पहला दिन है और इस विशाल पंडाल का निर्माण अयोध्यानगर के रूप में हुआ है, क्योंकि यहाँ इस अवसर्पिणीकाल के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का पंचकल्याणक महोत्सव होने जा रहा है। उनका जन्म अयोध्या में हुआ था, अतः यह पंडाल भी अयोध्यानगर के रूप में निर्मित हुआ है।

यद्यपि इस पंचकल्याणक के विधिनायक ऋषभदेव (आदिनाथ) हैं, तथापि इसमें सभी तीर्थंकरों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित होंगी। मूल विधि तो विधिनायक की मूर्ति पर ही सम्पन्न होगी, किन्तु सामान्य विधि तो सभी मूर्तियों पर होती है। पूजन भी प्रतिदिन सभी तीर्थंकरों की होती है।

मूलतः तो प्रत्येक पंचकल्याणक श्रीमज्जिनेन्द्र पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव ही होता है और उसमें सभी जिनेन्द्रों की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की जाती हैं, पर प्रत्येक पंचकल्याणक में किसी एक तीर्थंकर को विधिनायक के रूप में स्वीकार किया जाता है और उनके जीवन के आधार पर पंचकल्याणक का कार्यक्रम सुनिश्चित होता है।

ये पंचकल्याणक ऐसी पाँच घटनाएँ हैं, जो भरत क्षेत्र के चौबीसों तीर्थंकरों के जीवन में समान रूप से ही घटित हुई थीं। अतः किसी भी तीर्थंकर को विधिनायक क्यों न बनाया जाय, कुछ छोटी-मोटी बातों को छोड़कर कोई विशेष अन्तर नहीं आता। माता-पिता के नाम, जन्मस्थान, वैराग्य का निमित्त आदि बातों में ही अन्तर आता है, शेष तो सब समान ही हैं। वे ही सौधर्मादि इन्द्र, वही सुमेरुपर्वत, वही पांडुकशिला, वैसा ही अभिषेक आदि सब एक सा ही होता है।

यदि कोई विशेष कारण न हो तो अधिकांश पंचकल्याणकों में ऋषभदेव को ही विधिनायक बनाया जाता है : क्योंकि उपलब्ध सभी प्रतिष्ठापाठों की रचना उन्हीं को विधिनायक मानकर हुई है। जब अन्य तीर्थंकरों को विधिनायक बनाया जाता है तो प्रतिष्ठाचार्य आवश्यक संशोधन करके प्रतिष्ठा सम्पन्न कराते हैं।

अयोध्यानगर के रूप में बने इस विशाल पंडाल में आज हम सबने पंचकल्याणक का झंडा गाड़ दिया है। अतः हम सबको आज से अपना झंडा भी यहीं गाड़ देना चाहिए और हर कार्यक्रम में आद्योपान्त उपस्थित रहकर इस महायज्ञ का पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिए।

दूसरा दिन

ये पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव भगवान बनने की प्रक्रिया के महोत्सव हैं। इन महोत्सवों में जितने भी जिनबिंब (प्रतिमाएँ) प्रतिष्ठित होने आते हैं, वे सभी प्रतिष्ठित होकर ही जाते हैं, भगवान बनकर ही जाते हैं। यह तो सर्वविदित ही है कि प्रतिष्ठित जिनबिंबों को स्थापनानय और स्थापनानिक्षेप के आधार पर भगवान कहने का ही व्यवहार प्रचलित है, जो उचित भी है।

मैं तो जिस भी पंचकल्याणक में प्रवचनार्थ जाता हूँ, वहाँ अपने आरंभिक प्रवचनों में एक बात अवश्य कहता हूँ कि इस पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव में समागत धातु या पाषाण की मूर्तियाँ जब भी यहाँ से वापिस जायेंगीं, तब वे भगवान बनकर ही जायेगीं, पर इस पंचकध्याणक में समागत जनता की भी कोई जिम्मेदारी है कि वे जैसे आये हैं, वैसे ही वापिस न चले जावें, यहाँ से कुछ लेकर जावें, कुछ सीखकर जावें। भले ही वे मूर्तियों के समान भगवान न बन पावें, पर उनमें भी तो कुछ न कुछ परिवर्तन तो आना ही चाहिए।

मैं महिलाओं से विशेष रूप से कहता हूँ कि यदि गृहस्थी की झंझटों के कारण बहू न आ पाई हो, पर सास आ गई हो तो उसकी यह जिम्मेदारी है कि जब वह वापिस घर पहुँचे तो उसकी बातों से नहीं, अपितु उसके व्यवहार से यह प्रतीत होना चाहिए कि अम्माजी गंगाजी नहा के आई हैं, पंचकल्याणक देख के आई हैं, अब ज्वालाबाई से शान्तीबाई हो गई हैं। उनके स्वभाव में थोड़ी-बहुत नम्रता व सरलता तो आना ही चाहिए।

यदि कारणवश बहू आ गई हो, सास न आ पाई हो तो उसकी भी जिम्मेवारी है कि जब वह वापिस अपने घर पहुँचे तो उसकी ड्रेसिंग टेबिल पर शीशियों की भीड़ कुछ न कुछ कम अवश्य होना चाहिए।

आप जानती हैं ये श्रृंगार-सामग्री कितनी क्रूरता से बनती हैं, इनके निर्माण में कितने जीवों की हिंसा होती है ? स्वयं की सुन्दरता निखारने के लिए निरीह मूक पशु-पक्षियों का यह प्रतारण हमें कहाँ ले जायगा ? इसका भी विचार करना चाहिए।

मैं यह नहीं कहता हूँ कि आप सजे-संवरे नहीं, पर यह अवश्य कहना चाहता हूँ कि इस कार्य में हिंसक सामग्री का उपयोग कदापि न करें। ये रेशमी साडियाँ, जो करोड़ों कीड़ों को मारकर बनाई जाती हैं - इनका उपयोग कदापि न करें, अपने जीवन को धर्ममय बनायें।

बहिनों से कही गई मेरी इस बात को सुनकर भाइयों को मुस्कराने की जरूरत नहीं, क्योंकि उनका भी कुछ उत्तरदायित्व है, उन्हें भी अपने उत्तरदायित्व को पहिचानना चाहिए।

यदि इस उत्सव में पिता आ गये हों, पर कार्याधिक्य से पुत्र न आ पाये हों तो उन पिताओं के जीवन में भी इस पंचकल्याणक के दर्शन से ऐसा परिवर्तन आना चाहिए कि उनके व्यवहार से पुत्रों को भरोसा हो जावे कि अब तिजोड़ी की चाबी प्राप्त करने के लिए पिताजी के मरने का इन्तजार नहीं करना पड़ेगा। धन्धे-पानी से उनका मोह कुछ न कुछ कम अवश्य होना चाहिए।

मैंने ऐसे लोग देखे हैं कि जबतक उनका स्वर्गवास नहीं हो गया, तब तक बच्चे अपने घर का फर्नीचर भी नहीं बदलवा पाये; उनके मरने के उपरान्त ही घर में कुछ परिवर्तन संभव हो पाया है। इतना भी घर से क्या चिपटना ? अब उम्र हो गई है तो घर से विरक्त होकर आत्महित में प्रवृत्त होना ही चाहिए।

यदि इस पंचकल्याणक में पिता न आ पाये हों और पुत्र आ गये हों तो उनमें भी कुछ न कुछ बदलाव तो आना ही चाहिए। उनके घर लौटने पर उनके माता-पिता की कम से कम यह चिन्ता तो समाप्त होना ही चाहिए कि अब हमारे देहान्त के बाद भी ये जिनमंदिर बिना पूजा-पाठ के नहीं रहेंगे; इनमें वैसी ही हलचल रहेगी, जैसी कि आज रहती है। इन पंचकल्याणकों में प्रतिष्ठित जिनबिंबों की पूजा-पाठ कौन करेगा ? उनकी यह चिन्ता तो समाप्त होना ही चाहिए।

आप जरा सोचिए तो सही कि आप शान्ति के इस महायज्ञ में पधारे हैं, तो क्या आपका चित्त रंचमात्र भी शान्त न होगा, विषय-कषाय की ज्वालाएँ वैसी की वैसी ही जलती रहेंगी ?

जब हम बहुत गर्मी का अनुभव करते हैं तो पाँच मिनट के लिए स्नानघर में चले जाते हैं और ठंडे पानी से नहाते हैं तो हमारी गर्मी शान्त हो जाती है, तो क्या हमारे ये आठ दिन के पंचकल्याणक महोत्सव उस पाँच

मिनट के स्नानघर से भी गये बीते हैं, जो इनमें आठ-आठ दिन रहकर भी हमारे चित्त में रंचमात्र भी शान्ति न आवे? इस महोत्सव की लाज अब आपके हाथ में है।

पत्थर की मूर्तियाँ तो भगवान बन के जायेंगी, पर हम तो चैतन्यतत्व हैं, क्या हम पत्थर की जड़-मूर्तियों से भी गये-बीते हैं, जो वैसे के वैसे ही चले जावेंगे? आज हम सब को इस बात पर गंभीरता से विचार करना चाहिए।

यदि आप यहाँ से कुछ लेकर गये, कुछ शान्त होकर गये, कुछ बदलकर गये, कुछ धर्मनिष्ठ होकर गये, तो उसमें आपका तो परम लाभ है ही, पंचकल्याणक की भी सार्थकता इसी में है और आयोजकों के श्रम की सफलता भी इसी में है।

यह पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव जिनेन्द्र प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा का महोत्सव है, पर आज यहाँ इन्द्र प्रतिष्ठा हो रही है।

यह तो आप जानते ही हैं कि तीर्थंकरों के जो असली पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव हुए थे, उन सभी का संचालन इन्द्रों ने ही किया था। तीर्थंकरों के जन्मादि के सभी उत्सव मुख्यरूप से इन्द्रों द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। अतः उन पंचकल्याणकों की नकल के आधार पर होने वाले इन पंचकल्याणकों में भी इन्द्रों की आवश्यकता होती है। तदर्थ कुछ व्यक्तियों को चुनकर इन्द्रप्रतिष्ठा द्वारा उन्हें इन्द्र बनाया जाता है। ये सभी प्रतिष्ठित इन्द्र पंचकल्याणक की वे सभी क्रियायें-प्रक्रियायें विधिवत् सम्पन्न करते हैं, जो क्रियायें-प्रक्रियायें ऋषभदेव के असली पंचकल्याणक में सौधर्मादि इन्द्रों ने की थी।

यह इन्द्रप्रतिष्ठा इसलिए भी आवश्यक है कि यह पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव एक अत्यन्त विशाल और महान महोत्सव है। इसकी पूजा-पाठ और क्रिया-प्रक्रिया में जो व्यक्ति सम्मिलित हो जाता है, वह बीच में इससे अलग नहीं हो सकता है।

यदि किसी व्यक्ति के घर सुआ या सूतक हो जावे तो समस्या खड़ी हो सकती है, पर इस इन्द्रप्रतिष्ठा से उस आठ दिन के लिए उस व्यक्ति का गोत्र ही बदल जाता है, जाति ही बदल जाती है, गति ही बदल जाती है; इस कारण उसे उस सूआसूतक का दोष नहीं लगता। अब तो वह इन्द्र बन चुका है, साधारण मानव नहीं रहा है तो मानव परिवार को लगने वाले सूआ-सूतक से वह कैसे प्रभावित हो सकता है?

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यह सब तो नाटक सा लगता है, पर भाई साहब यह एक प्रकार का नाटक ही तो है; क्योंकि इसमें असली पात्र कहाँ है ? इसमें न तो असली तीर्थंकर ऋषभदेव हैं और न असली इन्द्रादि। नाटक में भी तो यही होता है कि पौराणिक-ऐतिहासिक असली पात्रों के जीवन में जो कुछ भी घटित हुआ था, उसे स्टेज पर अभिनय के माध्यम से पात्रों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ भी पौराणिक तीर्थंकर महापुरुषों के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं को स्टेज पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

पौराणिक पुरुषों के जीवन को नाटक के रूप में प्रस्तुत करने वालों का भी उद्देश्य यही होता है कि लोग उनके जीवनदर्शन से शिक्षा ग्रहण करें और इसका उद्देश्य भी लगभग यही है। पर इस पंचकल्याणक को नाटक कहने से कुछ लोगों को अटपटा सा लगता है और वे लोग इस बात पर नाराज भी होने लगते हैं। वे कहते हैं कि आप हमारे इस महान उत्सव को नाटक कहते हो ?

नाटक शब्द का सही भाव न समझने के कारण ही उन्हें इसप्रकार का विकल्प आता है, पर नाटक शब्द स्वयं महान है। आचार्य अमृतचन्द्र ने तो ग्रन्थाधिराज समयसार को भी नाटक समयसार कहा है। क्या ये प्रतिष्ठपाठ समयसार से भी महान हैं ?

नाटक समयसार अध्यात्म का सर्वोत्कृष्ट नाटक है और ये पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव व्यवहार के सर्वोत्कृष्ट नाटक हैं, जो हमारे जीवन को परिमार्जित करते हैं। मूल पात्रों के जीवन को सीमित समय में चतुर निर्देशकों के निर्देशन में अभिनेताओं द्वारा अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत किया जाना ही तो नाटक का वास्तविक स्वरूप है। इन पंचकल्याणकों का निर्देशक प्रतिष्ठाचार्य होता है। प्रतिष्ठाचार्य के निर्देशन में तीर्थंकरों के जीवन की कल्याणकारी घटनाओं को पात्रों द्वारा सीमित समय में पंचकल्याणकों के स्टेज पर प्रस्तुत किया जाना ही पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव है। इसमें नाटक के सभी तत्व विद्यमान हैं।

अजैन जनता को पंचकल्याणक का स्वरूप समझाने की भावना से जब मैंने एक बार यह कहा कि यह पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्संव एक प्रकार से जैनियों की रामलीला है तो कुछ लोग उद्वेलित हो गये और कहने लगे कि आप हमारे इस पंचकल्याणक को रामलीला कहते हैं।

मैंने उन्हें समझाने का प्रयत्न किया कि भाईसाहब ये अजैन भाई रामलीला के उदाहरण से इसका स्वरूप जितनी अच्छी तरह समझ सकते हैं, उससे अच्छा और कोई उपाय नहीं है। मैं रामलीला का उदाहरण देकर पंचकल्याणकों की प्रतिष्ठा घटाना नहीं चाहता, अपितु बढ़ाना चाहता हूँ। मैं पंचकल्याणकों का विरोधी नहीं हूँ।

राम भी तो भगवान हैं, जैनियों के यहाँ भी वे तीर्थंकरों के समान वीतरागी सर्वज्ञ होकर मोक्ष गये हैं। रामलीला में उनके जीवन को प्रदर्शित कर जनता को सन्मार्ग पर लगाने का ही प्रयास किया जाता है और इन पंचकल्याणकों में यही होता है।

रामलीला का प्रदर्शन भी तो नाटक के रूप में ही होता है। वैष्णव संस्कृति में रामलीला की महिमा भी कम नहीं है, जो उसका उदाहरण देने से हमारे पंचकल्याणक की महिमा घट जावेगी।

यहाँ एक प्रश्न यह भी उठाया जा सकता है कि आप बार-बार यह कह रहे हैं कि जब ऋषभदेव का असली पंचकल्याणक हुआ था, तब सौधर्मादि असली इन्द्रों ने ही आकर किया था, तो क्या हमारा यह पंचकल्याणक असली नहीं है, नकली है ?

कौन कहता है कि यह पंचकल्याणक नकली है ? यह असली भी नहीं है और नकली भी नहीं है। यदि यह असली है तो फिर चौथे काल में नाभिराय के घर अयोध्या में जो पंचकल्याणक सम्पन्न हुआ था, वह क्या था ? असली पंचकल्याणक पंडालों में नहीं हुआ करते, पर यदि यह असली नहीं है तो नकली भी नहीं है, अपितु असली की असल-नकल है। नकली और नकल में बहुत बड़ा अन्तर होता है।

असल-नकल का अर्थ होता सत्य प्रतिलिपि। सत्य प्रतिलिपि तो मूल के समान ही प्रामाणिक होती है, पर नकली का अर्थ तो एकदम गलत ही होता है।

जब कोई व्यक्ति नौकरी के लिए प्रार्थना पत्र देता है और उसके साथ प्रमाण पत्र की असल-नकल (सत्य प्रतिलिपि) भी लगाता है तो उसका काम हो जाता है, पर यदि नकली प्रमाण पत्र लगावे तो जेल जाना होगा।

यह पंचकल्याणक नकली नहीं है, असली पंचकल्याणक की असल-नकल है, सत्य प्रतिलिपि है; अतः इसका फल भी असली के समान ही प्राप्त होता है। नाटक भी तो नायक का असली जीवन नहीं होता, नायक

के जीवन की असल-नकल ही होता है, पर उसे असली के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। उसीप्रकार यह पंचकल्याणक भी तीर्थंकर ऋषभदेव के असली पंचकल्याणक की असल-नकल है, पर इसे असली के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है।

हाँ, यह बात अवश्य है कि यदि हम इस पंचकल्याणक से असली पंचकल्याणक का लाभ लेना चाहते हैं तो हमें इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए कि यह असल-नकल ही हो। तात्पर्य यह है कि यह पंचकल्याणक उस पंचकल्याणक के अनुरूप ही होना चाहिए।

यहाँ भी एक प्रश्न संभव है कि ऐसा कैसे हो सकता है ? कहाँ असली इन्द्र की व्यवस्था और कहाँ सामान्य मानवों की व्यवस्था ? कहाँ असली चेतन तीर्थंकर और कहाँ अचेतन पत्थर की प्रतिमा?

अरे भाई, समानता का आशय न तो वैभव और शक्ति से है और न चेतन-अचेतन से ही है। तात्पर्य यह है कि यदि सर्वज्ञ भगवान शान्त वीतरागी थे तो उनकी प्रतिमा भी शान्त और वीतरागी छबि की होनी चाहिए, सर्वज्ञ वीतरागी भगवान का उपदेश वीतरागता का पोषक होता था तो यहाँ भी वीतरागता के पोषक व्याख्यान होना चाहिए।

क्या भगवान के समोशरण में जाकर कोई भगवान के अंगों पर चन्दन लगाता था, उनके अंगों को फूलों से सजाता था ? यदि नहीं तो फिर आप यहाँ भी ऐसा कैसे कर सकते हैं ? जो काम आदिनाथ की अयोध्या में संभव नहीं था, वह काम इस पांडाल में भी कैसे हो सकता है ?

इस बात को गहराई से समझने के लिए आपको इस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को भूलना होगा और यह विचार करना होगा कि आप अयोध्या के नागरिक हैं और यह चतुर्थकाल का आरंभिक काल है। आप भी इस महानाटक के एक पात्र हैं। भले ही आपने कोई बोली न ली हो, इन्द्र न बने हों, सक्रिय कार्यकर्ता भी न हों, मात्र लाभ लेने ही आये हों, फिर भी आप अयोध्या के नागरिक के रूप में इस महानाटक के एक पात्र हैं। अतः आपका व्यवहार भी तत्कालीन अयोध्या के नागरिकों के समान शालीन होना चाहिए, तभी यह पंचकल्याणक असली पंचकल्याणक की असल-नकल होगा और उसका पूरा-पूरा लाभ आपको प्राप्त होगा।

शायद आप यह तो जानते ही होंगे कि उस समय बड़े से बड़े अपराध के लिए मात्र तीन ही दण्ड थे - हा, मा और धिक्। यदि किसी से कोई गलती होती थी तो 'हा' कह देने मात्र से वह पानी-पानी हो जाता था। अधिक हुआ तो 'मा' कहा जाता था। 'मा' का अर्थ है कि ऐसा मत करो। इससे भी काम न चला तो 'धिक्' शब्द का प्रयोग किया जाता था। किसी को 'धिक्' क्या कह दिया मानो फाँसी पर ही चढा दिया। उस समय सभी सहज व सरल वृत्ति के लोग थे। हमें भी यदि आत्मा का उत्थान करना है तो सहज व सरल वृत्ति का बनना होगा।

आज आपकी भी अयोध्या के नागरिक के रूप में प्रतिष्ठा हो चुकी है। अब आप ऐसा अनुभव कीजिए कि आप राजा नाभिराय की प्रजा है। यदि आप ऐसा कर सके तो निश्चित रूप से आपके परिणाम कुछ न कुछ कोमल, कुछ न कुछ सरल अवश्य होंगे और आपको इस पंचकल्याणक में सम्मिलित होने का पूरा-पूरा लाभ प्राप्त होगा।

आशा है आप इस बात पर गंभीरता से विचार करेंगे।

कोई न कोई राजनीति होगी

किसी व्यक्ति का हृदय कितना ही पवित्र और विशाल क्यों न हो; किन्तु जबतक उसका कोई स्वरूप सामने नहीं आता, तबतक जगत उसकी पवित्रता और विशालता से परिचित नहीं हो पाता है। विशेषकर वे व्यक्ति जो किसी कारणवश उससे द्वेष रखते हों, तबतक उसकी महानता को स्वीकार नहीं कर पाते, जबतक कि उसका प्रबल प्रमाण उनके सामने प्रस्तुत न हो जावे। विरोध के कारण दूर रहने से छोटी-छोटी बातों में प्रगट होनेवाली महानता तो उन तक पहुँच ही नहीं पाती है; जो कुछ पहुंचती भी है, वह तीव्र द्वेष में सहज स्वीकृत नहीं हो पाती है। यदि किन्हीं को कभी किसी कार्य को देखकर ऐसा लगता भी है तो पूर्वाग्रह के कारण समझ में नहीं आती। तथा यदि समझ में भी आवे तो - इसमें भी कोई न कोई राजनीति होगी - यह समझकर यों ही उड़ा दी जाती है; क्योंकि उनकी बुद्धि तो उसके दोष-दर्शन में ही सतर्क रहती है।

- सत्य की खोज, अध्याय, 39, पृष्ठ 218

तीसरा दिन

आज पंचकल्याणक का तीसरा दिन है। आज गर्भकल्याण की पूर्व क्रिया का कार्यक्रम होगा। गर्भकल्याणक तो कल होगा, पर आज गर्भकल्याणक के भी पहले होने वाली कुछ आवश्यक क्रियायें सम्पन्न होंगी।

जब तीर्थंकर का जीव माता के गर्भ में आता है,तब उसके पूर्व माता को रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह सपने आते हैं, जो इस बात के सूचक होते हैं कि माता के गर्भ में तीर्थंकर का जीव आने वाला है।

आज रात को वही सोलह स्वप्नों का दृश्य दिखाया जावगा। उसमें सब बातें प्रतिष्ठाचार्यों द्वारा स्पष्ट की जावेंगी।

यह तो आप जानते ही हैं कि जब भी कोई महान कार्य सम्पन्न होता है तो वह ऐसे ही सम्पन्न नहीं हो जाता। पहले वह हमारे सपनों में आता है, हम सपने सजाते हैं, हमारे मानस का निर्माण भी उसीप्रकार का होता है, वह निरन्तर हमारे चिन्तन का विषय बनता है, हम उसमय हो जाते हैं, तब कहीं कोई महान कार्य सम्पन्न होता है। हर कार्य की एक भूमिका होती है।

ताजमहल जमीन पर बनने के पहले किसी के सपनों में बना होगा, किसी के कल्पनाजगत में अवतरित हुआ होगा। उसके बाद नक्शे के रूप में कागज पर आया होगा, तब कहीं जाकर जमीन पर बना होगा।

कैसे होंगे वे माता-पिता, जिनके आंगन में तीर्थंकर का अवतार होगा ? कैसा होगा वह नगर, जहाँ तीर्थंकर का जन्म होगा और कैसे होंगे वे नागरिक, जिन्हें तीर्थंकरों के सत्समागम का लाभ प्राप्त होगा? हमें इस बात की कल्पना करना चाहिए, यह बात हमारे विचार की वस्तु बनना चाहिए। यह बात हमारे सपनों की वस्तु बनना चाहिए।

हम गीत गाते हैं कि-

एक बार तो आना पड़ेगा, सोते हुए भारत को जगाना पड़ेगा।

मान लीजिए भगवान ने आपका प्रार्थना सुन ली है और वह आने को तैयार है, पर एक समस्या है कि वे किस नगर में पधारें, किस घर में

अवतरित हों और किस माँ की कूख में आवें ?

है कोई तत्कालीन अयोध्या जैसा नगर, हैं कहीं तत्कालीन अयोध्या जैसे सीधे-सरल सज्जन नागरिक, है कोई मरुदेवी जैसी भद्र माता और है कोई नाभिराय जैसा पिता ?

पहले हमें ऐसा बनना होगा, जिनके यहाँ तीर्थंकर अवतरित हो सकें। यह तो आप जानते ही हैं कि तीर्थंकर अपनी माँ के इकलौते पुत्र होते हैं। वे अपनी माँ की पहली संतान होते हैं और उनके जन्म के बाद माँ पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत ले लेती हैं, अतः दूसरी संतान होने का सवाल ही नहीं रहता। है ऐसी कोई माता, जो भरी जवानी में पहली सन्तान के बाद ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने की भावना रखती हो ? अकेले ब्रह्मचर्य ही की बात नहीं है, और भी अनेक विशेषताएं होती हैं तीर्थंकर की माता में।

यही कारण है कि इन पंचकल्याणकों में भी भगवान के माता-पिता बनने वालों को ब्रह्मचर्य व्रत दिया जाता है। माता-पिता की बोली भी नहीं लगती है, क्योंकि इनमें पैसे की मुख्यता नहीं होती, सदाचारी जीवन की मुख्यता होती है, गरिमा की मुख्यता होती है। कहां मिलते हैं ऐसे महान युवा दम्पत्ति तीर्थंकर के माता-पिता बनने के लिए ? अन्ततः अनेकों सन्तान के माता-पिताओं को ही तीर्थंकर का माता-पिता बनाना पड़ता है, क्योंकि ब्रह्मचर्य लेने को भी वे ही तैयार होते हैं।

वस्तुतः यह पंचकल्याणक भगवान बनने की प्रक्रिया का महोत्सव है, इन्द्र या राजा बनने या भगवान के माँ-बाप बनने की प्रक्रिया का महोत्सव नहीं है। इसमें भगवान बनने की विधि बताई जाती है, भगवान बनने की प्रेरणा दी जाती है, इन्द्रादि बनने की नहीं; तथापि इन्द्र व राजा बनने वाले तो बहुत मिल जाते हैं, भगवान के माँ-बाप बनने वाले भी मिल जाते हैं, पर भगवान बनने की कोई नहीं सोचता।

भगवान के माँ-बाप बनने का काम भी बहुत बड़ी जिम्मेवारी का काम है। माँ-बाप बनने वालों को स्वयं इसे समझना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि उनके जीवन को देखकर लोगों के हृदय में तीर्थंकरों के माँ-बाप की गरिमा कम हो जावे।

माता-पिता का चुनाव तो सब प्रकार की योग्यता देखकर प्रतिष्ठाचार्यों को ही करना चाहिए। स्वयं उत्सुकता प्रदर्शित करना अच्छी बात नहीं है।

आठ-दस वर्ष पहले की बात है कि एक सेठजी मेरे पास आये और कहने लगे कि अगले पंचकल्याणक में मुझे भगवान के माँ-बाप बनने का अवसर देना।

मैंने कहा-"इसका निर्णय तो प्रतिष्ठाचार्य ही करते हैं ?"

वे बोले-"मैंने उनसे भी कहा है। वे आपके ही तो शिष्य हैं। अतः आपके कान में भी बात डाल देना चाहता हूँ।"

मैं चुप रह गया।

अनेक वर्षों बाद मेरे पास आये और बड़े जोश में बोलने लगे-

"आप सब--------"

मैंने कहा-"क्या हुआ ? इतने नाराज क्यों हो रहे हो?"

उन्होंने बताया कि अनेक बार भावना प्रदर्शित कर देने पर भी मैं अभी तक भगवान का माँ-बाप नहीं बन पाया हूँ। आपके प्रतिष्ठाचार्य सुनते ही नहीं। आप ही कोई विधि बताइये न।

विनम्रता से समझाते हुए मैंने उनसे कहा कि मैं क्या कर सकता हूँ ? मैंने शास्त्रों में भगवान बनने की विधि तो पढ़ी है, पर भगवान के बाप बनने की विधि कहीं नहीं देखी। अतः मैं आपको क्या बता सकता हूँ ?

दुःख की बात यह है कि सभी को भगवान का बाप बनना है, भगवान कोई नहीं बनना चाहता। अनन्त आनन्द तो भगवान बनने में है, भगवान के माता-पिता बनने में नहीं। भगवान के माता-पिता बने बिना भी मुक्ति प्राप्त हों सकती है, पर भगवान बने बिना मुक्ति की प्राप्ति संभव नहीं है। अतः सभी को भगवान बनने की ही भावना भानी चाहिए।

यदि भगवान को अपने आंगन में पधराना है, बुलाना है तो हमें उनके आने योग्य वातावरण बनाना होगा, स्वयं को भी इस योग्य बनाना होगा कि जिनके बीच भगवान पधार सकें। यदि हम अपने को इस योग्य बना सके तो भले ही सिद्धशिला छोड़कर भगवान यहाँ न पधारे, पर हम स्वयं ही भगवान बन जायेंगे, हम में से ही कोई पात्र जीव अपने पौरुष को संभालकर भगवान बन जायगा।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि चौथेकाल जैसा वातावरण इस पंचमकाल में कैसे संभव है ? कहाँ से लावें नाभिराय जैसे पिता और मरुदेवी जैसी माता? असली सौधर्म इन्द्र तो हमारे पंचकल्याणक में आने से रहा, हमें तो जैसे जो उपलब्ध हैं, उन्हीं में से चुनने हैं और उन्हें ही इन्द्र बनाने हैं, राजा बनाने हैं।

हाँ, यह बात तो सही है कि हम चौथे काल को पंचम काल में नहीं ला सकते और न ही नाभिराय और मरुदेवी जैसे माता-पिता ही मिल सकते हैं, पर उनमें शास्त्रानुसार तत्संबंधी न्यूनतम योग्यता तो होनी ही चाहिए। जब हम किसी ऐतिहासिक या पौराणिक नाटक को स्टेज पर प्रस्तुत करते हैं तो हमें तत्कालीन क्षेत्र-काल का वातावरण तो प्रस्तुत करना ही होता है। न सही सदा के लिए और सम्पूर्ण भारतवर्ष का वातावरण उस समय जैसा, पर हमें इस पांडाल के भीतर का वातावरण तो तत्कालीन अयोध्या जैसा बनाना ही होगा, अन्यथा यह पंचकल्याणक असली पंचकल्याणक की असल-नकल भी कैसे होगा ?

अपने परिणामों को भी तत्कालीन अयोध्या के नागरिकों जैसे बनाने होंगे। न सही सदा के लिए पर, इन आठ दिनों के लिए तो अपने परिणाम सरल करने ही होंगे, कोमल करने ही होंगे। इसके बिना तो हमारा यह पंचकल्याणक सत्य प्रतिलिपि भी साबित न होगा। ऐसी स्थिति में यथोचित लाभ भी कैसे प्राप्त होगा ? यह एक विचारणीय बात है।

यहाँ भी एक प्रश्न संभव है कि आप आठ दिन के लिए ही परिणामों के सुधारने की बात क्यों करते हैं, जीवन भर के लिए परिणाम सुधारने की बात क्यों नहीं करते ?

अरे भाई, हम तो यही चाहते हैं कि हम सबके परिणाम जीवन भर के लिए ही सुधरें, पर हमारे चाहने से क्या होता है ? यदि प्रतिष्ठाचार्य जीवन भर के लिए प्रतिज्ञाएँ दिलाने लगे तो उन्हें न तो जाप में बैठने के लिए लोग मिलेंगे और न कोई इन्द्र या राजा ही बनेगा। अत: प्रतिज्ञा तो आठ दिन के लिए ही ठीक है।

जब एक बार आठ दिन के लिए हमारा जीवन सदाचारमय हो जायगा; शुद्ध, सरल, सहज व सात्विक हो जायगा तो हम उसके लाभ से भी अच्छी तरह परिचित हो जावेंगे। अत: ऐसा भी हो सकता है कि फिर हम जीवन भर ही शुद्ध, सात्विक, सरल व सदाचारी बने रहें।

यदि कोई व्यक्ति बीड़ी पीता है, तम्बाकू खाता है, चाय पीता है तो उसे ऐसा भ्रम हो जाता है कि मैं इनके बिना रह ही नहीं सकता, पर जब वह आठ दिन इनके बिना रहकर भी स्वस्थ रहता है तो उसमें आत्म-विश्वास जागृत हो जाता है और वह इन पदार्थों को जीवन भर के लिए भी छोड़ देता

है। दिन में बार-बार खाने वाले यह समझते हैं कि एक बार खायेंगे तो कमजोरी आ जायेगी, पर जब आठ दिन तक एक बार ही खाते हैं और एकदम ठीक रहते हैं तो बार-बार खाने से विरक्त ही हो जाते हैं।

एक व्यक्ति जब अपने परिवार में अकेला रह गया तो उसने काशी वास का विचार किया। उसने अपनी इकलौती विवाहित बेटी को पत्र लिखा कि अब जीवन भर काशीवास करना चाहता हूँ। किन्तु काशी जाने के पूर्व आठ दिन के लिए तुम्हारे पास आना चाहता हूँ। मैं अपनी आँखों से देखना चाहता हूँ कि मेरी बेटी ससुराल में सुखी तो है, उसका दाम्पत्य जीवन सफल तो है? तुम्हें सुखी देखकर मैं चैन से काशीवास कर सकूँगा और मेरा मरण सुधर जायेगा।

पिता का पत्र पाकर पुत्री चिंतित हो उठीः क्योंकि वह तो अपने पति से भी अलग रह रही थी, तलाक की पूरी-पूरी तैयारी थी। उसे चिन्ता इस बात की थी कि जब पिताजी को यह सब पता चलेगा तो उनका क्या हाल होगा, उनका मरण सुधरेगा कि बिगड़ेगा ?

वह उस पत्र को लेकर पति के घर पहुँची तो पति ने देखते ही कहा-

"अब आ गई अकल ठिकाने ?"

"अकल ठिकाने नहीं आई, मात्र मैं ही आई हूँ।" कहते हुए उसने पिताजी का पत्र उसके सामने रख दिया। पत्र पढ़कर पति बोला- ।"बोलो, मैं इस मामले में तुम्हारी क्या सहायता कर सकता हूँ ?"

"यही कि पिताजी की खातिर हम आठ दिन प्रेम से पति-पत्नी की तरह रह लें, अन्यथा उन्हें बहुत तकलीफ होगी।"

"जब हममें परस्पर प्रेम रहा ही नहीं तो यह कैसे हो सकता है ?"

"हो क्यों नहीं सकता, हमें प्रेम से रहना थोड़े ही है, बस प्रेम से रहने का अभिनय करना है।"

"अच्छा तो ठीक है, तुम्हारे वृद्ध पिता के खातिर मैं इतना करूंगा।"

परिणामस्वरूप वे दोनों पति-पत्नी पिताजी को लेने एक साथ स्टेशन पहुँचे। उन्हें लाकर आठ दिन साथ-साथ बड़े ही प्रेम से रहे। जाते समय ट्रेन पर विदा करने भी दोनों साथ-साथ गये।

जाते समय पिता ने दोनों को आशीर्वाद देते हुए अत्यन्त गद्‌गद् भाव से कहा कि अब मेरा अन्तिम समय शान्ति से गुजरेगा, अब मैं शान्ति से मर सकूंगाः क्योंकि मैंने अपनी आँखों से तुम दोनों को अत्यन्त स्नेह से रहते

देखा है, तुम आदर्श दम्पत्ति हो। सदा सुखी रहो, सन्तुष्ट रहो, तुम्हारी जोड़ी भव-भव में भी बनी रहे। उन्हें क्या पता था कि यह जोड़ी तो अभी एक मिनट में ही बिछुड़ने वाली है। पिताजी की ट्रेन रवाना हुई कि पत्नी अपने घर जाने लगी और पति अपने घर। वे आये तो एक साथ थे, पर जाने के लिए अलग-अलग हो गए।

जब पत्नी ने पति को इस सहयोग के लिए धन्यवाद दिया और आभार माना तो पति बोला-

"जब हम दूसरों की खुशी के लिए प्रेम से रह सकते हैं; आठ दिन के लिए ही सही, पर प्रेम से रह तो सकते हैं; अभिनय के रूप में सही, पर शान्ति से रह तो सकते हैं; तो क्या अपनी खुशी के लिए, अपनी सुख-शान्ति के लिए हम एक साथ नहीं रह सकते ? अभिनय करते हुए ही सही, पर एक साथ रह तो सकते ही हैं।

दूसरे का मरण सुधारने के लिए जो काम कर सकते हैं, अपना जीवन सुधारने के लिए वही काम क्यों नहीं कर सकते ? अभिनय ही सही पर जब आज अभिनय करेंगे तो कल सच्चा प्रेम भी पनप सकता है।"

पत्नी बोली-"क्यों नहीं, अवश्य हो सकता है, सच्चे हृदय से प्रयास करने पर क्या नहीं हो सकता ?"

जबान से तो इतनी ही बात हुई, शेष बात आँखों ही आँखों में हो गई। दोनों की आँखें गीली हो गईं और वे एक साथ एक ही घर की ओर चल दिये।

इसीलिए तो मैं कहता हूं कि आज हम इस पंचकल्याणक में अभिनय करेंगें तो कल कल्याण करने वाले भावों रूप से परिणमित भी होगें; आठ दिन के अभिनय ने जिसप्रकार उन पति-पत्नी को जीवन भर के लिए बांध दिया: उसीप्रकार आठ दिन का हमारा यह सदाचारी, सरल, सहज, जीवन हमारे सम्पूर्ण जीवन को सुधार सकता है। अतः अभी आठ दिन के लिए तो आप अपने को तत्कालीन अयोध्यावासियों जैसा बनाइये। हो सकता है कि जो परिणाम आपके इन आठ दिनों में सुधरें, वे जीवन भर के लिए सुधर जायें।

आत्मा के कल्याण करने का सर्वोत्कृष्ट अवसर है यह पंचकल्याणक महोत्सव। यदि इस अवसर पर भी हमारे परिणाम नहीं सुधरे तो फिर कौन सा अवसर आवेगा ? साक्षात् तीर्थंकर तो आपको समझाने के लिए आने से

रहे।

भाई, इस निकृष्ट काल में यह सर्वोत्कृष्ट अवसर है। अतः इस अवसर को चूकना योग्य नहीं है। अपने परिणामों को सुधारने का महान अवसर है।

यह पंचकल्याणक महोत्सव अपने कल्याण के लिए ही मनाया जा रहा है। यह भगवान का नहीं, अपना ही महोत्सव है। भगवान का कल्याण तो हो चुका है, पर अभी अपना कल्याण होना बाकी है। इसी का यह महान अवसर है।

आज भगवान की माता को सोलह सपने आये थे, उनके परिणाम निर्मल से निर्मल होते गये थे, उनके गर्भ में ऋषभदेव का जीव आनेवाला था। उनके परिणामों की निर्मलता का ही परिणाम समझिये कि अयोध्या में उसी दिन से 15 माह तक रत्नों की वर्षा हुई थी। उन्हीं के क्यों, सम्पूर्ण नगरवासियों के ही परिणाम सुधर गयें थे। परिणामस्वरूप सर्वत्र समृद्धि का साम्राज्य आ गया था। रत्नों की वर्षा से और क्या होगा ? यही तो होगा, यही हुआ; किसी को कोई आर्थिक कठिनाई नहीं रही।

आप सबके परिणाम भी निर्मल होगें तो समझिये रत्नों की ही वर्षा होगी। खोटे परिणामों का फल तो पत्थरों की वर्षा होता है। जब परिणाम ही खोटे होंगे तो पत्थरों की वर्षा न होगी तो और क्या होगा ? अतः हम सभी अपने परिणामों को सुधारें। धीरे-धीरे परिणामों को निर्मल करें, जिससे स्वयं का तो कल्याण हो ही, यह महोत्सव भी सफल होगा, सार्थक होगा।

रत्नों की वर्षा भी इन्द्रों ने ही की थी, देवों ने ही की थी, अयोध्यावासियों ने ही की थी। आप भी इन्द्र बन गए हैं न , कुबेर बन गए हैं न ? अयोध्यावासी हो गये न ? अब आपको ही तो करना है रत्नों की वर्षा। आप न करेगें तो कौन करेगा ? आप रत्नों की वर्षा में बर्षे रत्नों को समेटने वाले बनने की न सोचें, रत्नों की वर्षा करने वाले बने।

सब परिणामों को खेल है। यह पंचकलयाणक महोत्सव भी परिणाम सुधारने का सर्वोत्कृष्ट निमित्त है। आचार्य पूज्यपाद ने इन्हें सम्यग्दर्शन का निमित्त कहा है। सम्यग्दर्शन भी तो आत्मा के आत्मसम्मुख निर्मल परिणामों का नाम है।

परिणाम भी तो अपरिणामी भगवान आत्मा के आश्रय से सुधरते हैं। अतः अपने उपयोग को सम्पूर्ण जगत से हटाकर त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा पर केन्द्रित कीजिए, भगवान बनने का यही उपाय है। अब राजारानी और इन्द्रइन्द्राणी बनने का विकल्प छोड़कर स्वयं भगवान बनने की भावना को जागृत कीजिए।

इन्द्रइन्द्राणी और राजारानी तो जिनको बनना था, बन गये, आप तो अयोध्यावासी ही बन जाइये और ऐसे सपने सजोइये कि आप भी भगवान बनने की प्रक्रिया को आरंभ कर सकें।

अब कल से पंचकल्याण के मूल दिन आरंभ होंगे। कल गर्भकल्याणक है। अब आप अपने मानस को ऐसा बनाने का प्रयत्न कीजिए कि ज्यों-ज्यों कार्यक्रम आगे बढ़ें, त्यों-त्यों आपके परिणाम भी बढ़ते जायें। इस पंचकल्याणक का समापन निर्वाण के रूप में होगा। हमारे परिणाम भी उसी दिशा में बढ़ना चाहिए। तभी हमारा इस पंचकल्याणक में सम्मिलित होना सार्थक होगा, सफल होगा।

धर्म परिभाषा नहीं, प्रयोग है।

अतः सुखाभिलाषी को, आत्मार्थी को, मुमुक्षु को अपने को पहिचानना चाहिए, अपने में जम जाना चाहिए, रम जाना चाहिए। सुख पाने के लिए अन्यत्र भटकना आवश्यक नहीं। अपना सुख अपने में है, पर में नहीं, परमेश्वर में भी नहीं; अतः सुखार्थी का परमेश्वर की ओर भी किसी आशा-आकांक्षा से झाँकना निरर्थक है। तेरा प्रभु तू स्वयं है। तू स्वयं ही अनन्त सुख का भण्डार है, सुखस्वरूप है, सुख ही है। सुख को क्या चाहना ? चाह ही दुःख है। पंचेन्द्रिय के विषयों में सुख है ही नहीं। चक्रवर्ती की संपदा पाकर भी यह जीवन सुखी नहीं हो पाया। ज्ञानी जीवों की दृष्टि में चक्रवर्ती की सम्पत्ति की कोई कीमत नहीं है, वे उसे जीर्ण तृण के समान त्याग देते हैं और अन्तर में समा जाते हैं। अन्तर में जो अनन्त आनन्दमय महिमावन्त पदार्थ विद्यमान है, उसके सामने बाह्य विभूति की कोई महिमा नहीं।

धर्म परिभाषा नहीं, प्रयोग है। अतः आत्मार्थी को धर्म को शब्दों में रटने के बजाय जीवन में उतारना चाहिए, धर्ममय हो जाना चाहिए।

– तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ 52

चौथा दिन

गर्भकल्याणक

आज गर्भकल्याणक का दिन है। पंचकल्याणक महोत्सव का चौथा दिन और पंचकल्याणक का पहला दिन। गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक, तपकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और मोक्षकल्याणक - ये पांच कल्याणक होने से ही इस महोत्सव को पंचकल्याणक महोत्सव कहते हैं।

"कल्याणं करोतीति कल्याणक:"। उक्त व्युत्पत्ति के अनुसार कल्याण करने वाले को कल्याणक कहते हैं। ये पांचों ही कल्याणक आत्मा के कल्याण के उत्कृष्ट निमित्त होने के कारण कल्याणक कहलाते हैं। हम सब भी आत्म-कल्याण तो करना ही चाहते हैं, इसीकारण हम सब इस पंचकल्याणक में उत्साहपूर्वक भाग ले रहे हैं।

यहां एक प्रश्न सम्भव है कि मोक्ष तो कल्याणस्वरूप है ही, केवलज्ञान भी कल्याणरूप ही है। तप भी कल्याण का कारण है। अत: तपकल्याणक,ज्ञानकल्याणक एवं मोक्षकल्याणक इन तीन को कल्याणक कहना तो उचित ही है, किन्तु गर्भ में आना और जन्म लेना तो कल्याण के कारण नहीं हैं, पर यहां उन्हें भी कल्याणक कहा जा रहा है।

गर्भ में भी सभी आते है और जन्म भी सभी लेते हैं। प्रत्येक आत्मा ने अनन्त जन्म मरण किए हैं और अनन्त दु:ख भी उठाये हैं। जो जन्म मरण दु:खरूप और दु:ख के कारण हैं,उन्हें कल्याणस्वरूप कैसे माना जा सकता है? यह एक विचारने की बात है।

जन्म मरण तो दोष हैं, उनका अभाव करके ही आत्मा परमात्मा बनता है। जो अठारह दोषों से रहित होते हैं, वे ही वीतरागी कहलाते हैं। अठारह दोषों में जन्म और मरण का नाम सबसे पहले आता है। "जन्म मरण तिरखा क्षुधा विस्मय आरत खेद" इत्यादि दोषों के नाम गिनाने वाले छन्द में जन्म मरण का नाम सबसे पहले आया है। जो दोषों में प्रधान हो,ऐसे जन्म को कल्याणस्वरूप कैसे कहा जा सकता है ?

हम पूजन की ओं ही में बोलते हैं कि 'जन्मजरामृत्यु विनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा'। तात्पर्य यह है कि मैं जन्म, जरा और मृत्यु के विनाश के लिए जल चढ़ाता हूं। जिनके नाश की भावना हम प्रतिदिन भाते हों, उन्हें कल्याणस्वरूप कैसे कहा जा सकता है ?

सबसे बड़ी बात तो यह है कि यदि गर्भ और जन्म का भी उत्सव मनाया जा सकता है तो फिर तीर्थंकरों का ही क्यों, हमारा तुम्हारा क्यों नहीं ? क्योंकि गर्भ में तो हम भी आये थे, जन्म भी हमारा हुआ ही था। हमने दीक्षा नहीं ली, हमें केवलज्ञान भी नहीं हुआ, हमें मोक्ष की भी प्राप्ति नहीं हुई ; अतः हमारे ये तीन कल्याणक तो मनाये नहीं जा सकते, पर गर्भ और जन्म तो हमारे भी हुए हैं; अतः गर्भ और जन्म के उत्सव तो हमारे भी मनाये ही जा सकते हैं। कुछ लोग इसप्रकार के उत्सव करते भी हैं। बर्थडे के नाम से इसप्रकार के उत्सव किये भी जाने लगे हैं।

मनुष्य का जन्म लेना तो आज एक समस्या बनी हुई है, सरकार इस बात से परेशान है कि इतने लोग जन्म क्यों ले रहे हैं ? जन्मदर कम करने के लिए सरकार परिवार नियोजन के नाम से करोड़ों रुपये खर्च कर रही है, हम दो और हमारे दो का नारा दे रही है ; फिर भी हम जन्म का उत्सव मनाये जा रहे हैं, उसे कल्याणस्वरूप कहे जा रहे हैं।

यह हैं कुछ सवाल, जो आज के लोगों के हृदय में हिलोरे लेते हैं। इनके संदर्भ में भी विचार किया जाना चाहिए।

अरे भाई, यह तो जन्म मरण का नाश करने वाले का जन्मोत्सव है। वह जन्म तो कल्याणस्वरूप ही है, जिसमें जन्म मरण के नाश करने का अपूर्व पुरुषार्थ किया जाता है। हमनें भले ही अनन्त जन्म लिए हों, पर जन्म-मरण के नाश करने का पुरूषार्थ किसी भी जन्म में नहीं किया। अतः हमारे जन्म का उत्सव करने योग्य नहीं है। जो जन्म स्वपर के कल्याण से सार्थक हुआ हो, वही जन्म कल्याणस्वरूप होता है, इसीकारण तीर्थंकरों का जन्मकल्याणक महोत्सव मनाया जाता है।

यह उनका अन्तिम जन्म था,इसलिए कल्याणस्वरूप हो गया। इसके बाद उनका जन्म नहीं होगा। जन्म नहीं होगा तो मरण भी नहीं होगा; क्योंकि मरण संज्ञा उसी देहावसान की है, जिसके बाद अन्य देह का धारण हो, कहीं अन्यत्र जन्म हो। उस देहावसान को तो निर्वाण या मोक्ष कहते हैं, जिसके बाद जन्म नहीं होता। जन्म मरण के अभाव का नाम ही निर्वाण है,

मोक्ष है।

जिस जन्म के बाद मरण न हो, निर्वाण हो, वह जन्म ही कल्याणस्वरूप है, उसका ही इसप्रकार का महोत्सव मनाया जाता है।

कहा भी है:-

> सित छटवीं आषाढ़, माँ त्रिशला के गर्भ में।
> अन्तिम गर्भावास यही जान प्रणमूं प्रभो।।
> तेरस दिन सित चैत, अन्तिम जन्म लियो प्रभू।
> नृप सिद्धार्थ निकेत, इन्द्र आय उत्सव कियो।।[1]

अन्तिम जन्म और अन्तिम गर्भावास ही उत्सव के योग्य है। यही कारण है कि तीर्थंकरों के गर्भ और जन्म कल्याणस्वरूप माने गये हैं, हमारे तुम्हारे नहीं; क्योंकि हमें तुम्हें तो न मालूम अभी कितने जन्म धारण करने हैं, कितनी बार मरना है।

रही हम दो और हमारे दो की बात, सो भाई हमारे तीर्थंकर तो अकेले ही होते हैं, उनके कोई सगे भाई-बहिन ही नहीं होते , पर उनके अभिभावक संयम के मार्ग से अपने परिवार को नियोजित रखते हैं, आज के लोगों के समान कृत्रिम साधनों से नहीं।

जन्मकल्याणक की विशेष चर्चा तो कल होगी, आज तो गर्भकल्याणक का दिन है। कल गर्भकल्याणक की पूर्वक्रिया के दिन आपने तीर्थंकर की माता के सोलह स्वप्न देखे थे और आज प्रात: महाराजा नाभिराय ने महारानी मरुदेवी को उनका फल बताया - यह भी आपने देखा। यह भी देखा कि माता मरुदेवी की छप्पन कुमारियाँ विविध प्रकार से सेवा करती हैं, अष्ट देवियाँ उनका मंगलगान करती हैं, सबप्रकार की अनुकूलता प्रदान करती हैं, उनके चित्त को प्रसन्न रखने के लिए उनसे अनेक प्रकार के प्रश्नोत्तर करती हैं, पहेलियाँ बूझती हैं, तत्वचर्चा करती हैं।

अभी तो तीर्थंकर का जीव गर्भ में भी नहीं आया कि उसके पहले से ही रत्नों की वर्षा, देवियों द्वारा माता की सेवा और अयोध्या के सभी नागरिकों, माता-पिता एवं परिवारजनों को सर्वप्रकार अनुकूलता हो गई है। तीर्थंकर प्रकृति जैसे महान पुण्य के साथ कुछ ऐसा भी पुण्य बंध सहज ही होता है, जो आगे-आगे चलकर सर्वप्रकार अनुकूलता प्रदान करता है।

न तो वे अभी भगवान ही बने हैं और न तीर्थंकर नामक नामकर्म की प्रकृति का भी उदय आया है, तेरहवें गुणस्थान में ही भगवत्ता प्रकट होगी,

1. महावीर पूजन: गर्भ कल्याणक और जन्म कल्याणक के अर्घ।

सर्वज्ञता प्रकट होगी और तेरहवें गुणस्थान में ही तीर्थंकर प्रकृति का उदय भी आयेगा, तब तक तो तीन-तीन कल्याणक हो चुके होंगे, फिर भी उनके गर्भ में आने के पूर्व से ही सर्वप्रकार की अनुकूलता बन जाती हैं, इन्द्र और देवता सेवा में हाजिर रहते हैं, पाण्डुकशिला पर जन्माभिषेक होता है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या वे जन्म से भगवान नहीं थे, जन्म से ही तीर्थंकर नहीं थे ? यदि ऐसा है तो फिर लोग ऐसा क्यों कहते हैं कि भगवान गर्भ में आये, भगवान का जन्म हुआ, भगवान ने दीक्षा ली आदि।

भाई, यह सब तो व्यवहार के वचन हैं। यह तो तुम जानते ही हो कि भगवान तो उसे कहते हैं, जो सर्वज्ञ, वीतरागी और हितोपदेशी हो। आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्डश्रावकाचार में लिखते हैं:-

"आप्तेनोच्छिन्न दोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ।।

ज़ो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितापदेशी हो; वही सच्चा देव (भगवान) है, आप्त है; क्योंकि इसके बिना आत्मा संभव नहीं है।"

पूर्ण वीतरागता,सर्वज्ञता और पूर्ण हितोपदेशीपना तो तेरहवें गुणस्थान में ही प्रकट होता है तथा तीर्थंकर प्रकृति का उदय भी तेरहवें गुणस्थान में ही होता हैं। कोई भी प्रकृति उदय में आने से पूर्व कार्यकारी नहीं होती। सत्ता में तो किसी मनुष्य के नरकायु भी पड़ी रह सकती है, पर उसे नारकी तो नहीं माना जा सकता; क्योंकि उसे नारकी मानने पर मनुष्य नहीं माना जा सकेगा। ऐसा होने पर भी भाविनैगमनय से उसे नारकी भी कह दिया जाता है, उसीप्रकार भाविनैगमनय से ही जन्म के समय भी इन्हें तीर्थंकर और भगवान कह दिया जाता है।

यदि उन्हें जन्म से ही भगवान माना जायगा तो फिर भगवान के जन्म के समान भगवान की शादी भी माननी पड़ेगी, जबकि भगवान के जो सर्वोत्कृष्ट भक्त हैं, ऐसे मुनिराज भी ब्रह्मचारी होते हैं तो फिर भगवान शादीशुदा कैसे हो सकते हैं ?

व्यवहार से हम कुछ भी कहें, पर निश्चय से तो सभी को यही जानना-मानना चाहिए कि भगवत्ता तो केवलज्ञान होने पर ही प्रकट होती है। हमें वचनों का व्यवहार भी सावधानी से करना चाहिए, जिससे व्यर्थ के भ्रम न फैलें। हमारे प्रतिष्ठाचार्यों की बात आप ध्यान से सुनेंगें तो वे यही कहते मिलेंगे कि तीर्थंकर का जीव मां के गर्भ में आया, बालक का जन्म हुआ,

जिसका नाम ऋषभ रखा गया, राजकुमार ऋषभ की शादी हुई ,युवराज ऋषभ का राजतिलक हुआ, महाराज ऋषभ ने दीक्षा ली, मुनिराज ऋषभ को केवलज्ञान हुआ एवं भगवान ऋषभदेव को मोक्ष की प्राप्ति हुई।

यही शोभा भी देता है, क्योंकि इसमें आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया का क्रमिक विकास स्पष्ट प्रतिभासित होता है। फिर भी यदि कोई भगवान का जन्म आदि शब्दों का प्रयोग करता है तो यह सोचकर समाधान कर लेना चाहिए कि यह भाविनैगमनय से कह रहा है।

वस्तुतः बात तो ऐसी है कि जन्म तो बालक का ही होता है। तात्पर्य यह है कि जन्म के समय तो हर व्यक्ति बालक ही होता है। राजा का जन्म नहीं होता, प्रधानमंत्री का भी जन्म नहीं होता, पर लोक में कहा तो ऐसा ही जाता है कि राजा दशरथ का जन्म अमुक दिन अमुक राजा के घर हुआ था। अथवा हमारे प्रधानमंत्री का जन्म अमुक दिन हुआ था। जन्म के समय न तो दशरथ राजा थे और न जन्म के समय हमारे आज के प्रधानमंत्री भी उस समय प्रधानमंत्री ही थे। हम कहें कुछ भी, पर यह बात हम भलीभाँति जानते है। पर न मालूम तीर्थंकर और भगवान के संदर्भ में क्यों भूल जाते हैं और उन्हें जन्म से ही भगवान या तीर्थंकर मानने लगते हैं, जिससे बहुत बड़ी सैद्धान्तिक भूल हो जाती है।

इस पर कुछ लोग कहते है कि आप तो कहते हैं कि स्वभाव से तो सभी भगवान हैं, पशु भी परमेश्वर हैं; अतः हम उन्हें स्वभाव से भगवान मानकर भगवान शब्द का प्रयोग करें तो क्या आपत्ति है ?

कुछ नहीं, पर इसप्रकार तो उन्हें ही क्यों, आप स्वयं को भी भगवान शब्द का प्रयोग कर सकते हैं; क्योंकि स्वभाव से तो सभी भगवान ही हैं। वस्तुतः बात ऐसी है कि शब्दों का व्यावहारिक प्रयोग स्वभाव के आधार पर नहीं, पर्याय के आधार पर होता है। जब वे पर्याय में भी सर्वज्ञ-वीतरागी भगवान बन जायेंगे, तभी उन्हें भगवान कहा जा सकता है। यदि अभी कहते हैं तो वह कथन भाविनैगमनय का ही होगा।

समझने की बात तो यह है कि राजा ऋषभदेव ने दीक्षा भगवान बनने के लिए ही तो ली थी। यदि वे भगवान थे ही तो दीक्षा की क्या आवश्यकता थी? अतः जब दीक्षा की बात आवे तो यही कहना ठीक है कि राजा ऋषभदेव ने दीक्षा ली। दूसरी बात यह भी तो है कि तुम मन में भले ही सोच लो कि हम तो भगवान शब्द का प्रयोग स्वभाव की अपेक्षा कर रहे हैं, पर जगत तो उसे

पर्याय की अपेक्षा ही समझता है और इससे एक अनर्थ की परम्परा चल सकती है।

जैसे लोग कहते हैं कि भगवान ऋषभदेव ने युग की आदि में लोगों को असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि में प्रशिक्षित किया। तो क्या भगवान तलवार चलाना भी सिखाते हैं, खेती करना भी सिखाते हैं, व्यापार करना भी सिखाते हैं ? वस्तुतः यह सब तो उन्होने राजा की अवस्था में ही किया था। अतः यही कहना ठीक है कि राजा ऋषभदेव ने असि,मसि आदि का उपदेश दिया; क्योंकि भगवान का दिया उपदेश तो सर्वग्राह्य होता है तो क्या सभी धार्मिक जनों को असि-मसि आदि कार्य करना आवश्यक है ? क्या ये कार्य धर्मकार्य हैं ? भगवान तो केवल धर्मोपदेश देते हैं, धंधे-पानी का उपदेश नहीं। उनकी जो दिव्यध्वनि खिरी, वही भगवान ऋषभदेव का उपदेश है, उसके पूर्व उन्होंने जो कुछ भी कहा, वह सब राजा ऋषभदेव की कथनी है, जो मुक्तिमार्ग में आवश्यक नहीं। मुनि दीक्षा लेने के पूर्व जो भी कथनी व करनी है, वह सब राजा ऋषभदेव की मानकर ही विचार करना चाहिए। केवलज्ञान होने के बाद जो दिव्यध्वनि खिरी, वह सब भगवान ऋषभदेव का उपदेश है, जो कि मुक्ति के मार्ग में पूर्णतः आचरणीय एवं माननीय है।

गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणाक एवं दीक्षाकल्याणक के जो उत्सव इन्द्रों द्वारा, देवों द्वारा या नागरिकों द्वारा सम्पन्न होते हैं, उनमें तीर्थंकर प्रकृति निमित्त भी नहीं है, क्योंकि कोई भी प्रकृति उदय में आने के पूर्व किसी कार्य में निमित्त नहीं हो सकती। तीर्थंकरों को तीर्थंकर प्रकृति के साथ अविनाभावी रूप से इसप्रकार के अन्य पुण्य का बंध होता है, जो उदय में आकर इन महोत्सवों का निमित्त बनता है।

इन्द्रादि अवधिज्ञान आदि से यह जानकर कि ये तीर्थंकर और सर्वज्ञ परमात्मा होने वाले हैं और इनके द्वारा धर्मतीर्थ का प्रवर्तन होगा, भक्तिभाव से ये सभी उत्सव करते हैं। हम सब भी इसी भक्तिभाव से इस महोत्सव में सम्मिलित हुए हैं। अपने कल्याण के साथ-साथ जगत के कल्याण की भावना भी इस महोत्सव के मूल में है।

मूलतः तो हम सब आत्मकल्याण की भावना से ही इस पंचकल्याणक में सम्मिलित हुए हैं; अतः हमें अपनी भावनाओं को निर्मल बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में पधारने से आपके परिणाम निरन्तर निर्मल हो भी रहे हैं। इसका अनुभव आप स्वयं भी कर रहे होंगे। हम तो कर ही रहे हैं। आप जितने उत्साह से भाग ले रहे हैं, जितने समर्पित भाव से योगदान कर रहे हैं, उससे प्रतीत होता है कि आपकी भावनाओं में निर्मलता बढ़ी है। आपके समय और श्रम का सदुपयोग हो रहा है, पैसे का सदुपयोग हो रहा है।

मान लो आप यहाँ न आये होते, पंचकल्याणक में शामिल न हुए होते, इन्द्र न बने होते तो आप अभी कहाँ होते, क्या कर रहे होते ? जरा इसकी कल्पना करके देखिये। दुकान पर बैठे होते, ग्राहक पटा रहे होते, टी.वी. देख रहे होते या कुछ खा-पी रहे होते, चाय-पानी कर रहे होते या कहीं बैठे-बैठे गप-सप कर रहे होते। ये सब काम तो पाप के ही काम हैं, पाप बंध के ही कारण हैं।

आप यहाँ आ गये हैं तो शान्तिपूर्वक बैठकर भगवान का गुणानुवाद कर रहे हैं, तत्वचर्चा सुन रहे हैं, विद्वानों के प्रवचनों के माध्यम से अपने तत्वज्ञान को निर्मल कर रहे हैं, पंचकल्याणकों के दृश्य देखकर अपने परिणामों को निर्मल कर रहे हैं। ये सब पुण्यकार्य हैं, पवित्र कार्य हैं, पुण्यबंध करने वाले कार्य हैं, सद्धर्म की वृद्धि करने वाले कार्य हैं, सद्ज्ञान प्राप्ति के मंगल कार्य हैं।

आप जो पैसा इस पंचकल्याणक में खर्च कर रहे हैं, इन्द्र बनने में कर रहे हैं, मंदिर बनवाने में खर्च कर रहे हैं, साधर्मियों की सेवा में खर्च कर रहे हैं, जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में कर रहे हैं; यदि वह पैसा इसमें खर्च नहीं करते तो किस में खर्च करते ?

सोचिए, जरा सोचिए न; मकान बनवाने में कर रहे होते, लेट्रिन बाथरूम में टाइलें जड़वाने में कर रहे होते, भक्ष्याभक्ष भक्षण में कर रहे होते, घूमने-फिरने में कर रहे होते, भोग-विलास में कर रहे होते, पंचेन्द्रियों की विषय सामग्री जुटाने में कर रहे होते, कषायों के पोषण में खर्च कर रहे होते।

यहाँ आने से आपके समय का सदुपयोग हो रहा है, शक्ति और श्रम का सदुपयोग हो रहा है, पैसे का भी सदुपयोग हो रहा है, परिणाम भी निर्मल हो रहे हैं, इससे अधिक और क्या चाहिए आपको ?

हाँ एक बात अवश्य है कि इतने से ही संतुष्ट मत हो जाइये, अपने भगवान आत्मा को जानने पहिचानने में भी उपयोग को लगाइये; क्योंकि इस पंचकल्याणक में पधारने का असली लाभ तो निज भगवान आत्मा को जानकर-पहिचान कर, उसी में जमकर-रमकर भगवान बनने की प्रक्रिया स्वयं में आरंभ कर देने में है। अतः स्वयं भगवान बनने की प्रक्रिया समझने में उपयोग लगाइये।

सम्पूर्ण जगत के जीव आत्मकल्याण का मार्ग प्राप्त करें, इस वात्सल्य भावना से ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है और उसके परिणामस्वरूप ही तीर्थंकर के इसप्रकार का योग बनता है कि उनके धर्मोपदेश से लाखों जीव आत्मकल्याण के पावन पथ पर चल पड़ते हैं। उन सौभाग्यशालियों में हम भी सम्मिलित हों- इस मंगल भावना से ही आप सब पधारें हैं; अतः आप सब इस पावन प्रसंग से अपने मन को निर्मल बनाकर आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करें - यही मंगल भावना है।

ज्ञान और ध्यान एक ओर रह गये हैं

समाज में त्यागधर्म के सच्चे स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाला विद्वान् बड़ा पण्डित नहीं; बल्कि वह पेशेवर पण्डित बड़ा पण्डित माना जाता है, जो अधिक से अधिक चन्दा करा सके। यह उस देश का, उस समाज का दुर्भाग्य ही समझो; जिस देश व समाज में पण्डित और साधुओं के बड़प्पन का नाप ज्ञान और संयम से न होकर दान के नाम पर पैसा इकट्ठा करने की क्षमता के आधार पर होता है।

इस वृत्ति के कारण समाज और धर्म का सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ कि पण्डितों और साधुओं का ध्यान ज्ञान और संयम से हटकर चन्दे पर केन्द्रित हो गया है। जहाँ देखो, धर्म के नाम पर विशेषकर त्यागधर्म के नाम पर, दान के नाम पर, चन्दा इकट्ठा करने में ही इनकी शक्ति खर्च हो रही है, ज्ञान और ध्यान एक ओर रह गये हैं।

- धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ 126

पाँचवा दिन

जन्मकल्याणक

आज जन्मकल्याणक का दिन है। पंचकल्याणक महोत्सव का पाँचवा दिन और पंचकल्याणक का दूसरा दिन। आज आपने ऋषभदेव के जन्मोत्सव का महान उत्सव देखा है और पाण्डुक शिला पर उनका जन्माभिषक भी देखा है, किया है। सभी मार्मिक दृश्यों को देखने के साथ-साथ प्रतिष्ठाचार्य जी से बहुत कुछ सुना है, समझा भी है।

इस अवसर्पिणीकाल के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की आयु 84 लाख पूर्व की थी, जिसे पांच कल्याणकों के रूप में पाँच दिन में विभाजित कर प्रस्तुत किया जाता है। गर्भकल्याणक का दिन तो लगभग 9 माह का ही था, पर यह जन्मकल्याणक का दिन 83 लाख पूर्व का है। जन्मकल्याणक का अर्थ मात्र जन्म दिन से ही नहीं है; अपितु जन्मकल्याणक के दिन ही वे सभी चीजें प्रस्तुत की जाती हैं, जो दीक्षा लेने के पूर्व तक घटित होती हैं। जैसे पालना झूलन, युवराज पद की प्राप्ति, राज्याभिषेक आदि। ऋषभदेव 20 लाख पूर्व तक तो कुमार अवस्था में रहे और उसके बाद 63 लाख पूर्व तक राज किया। इसी बीच शादी-विवाह, पुत्रोत्पत्ति आदि सभी प्रसंग बने। आज के दिन ही उन सभी मार्मिक प्रसंगों की चर्चा करनी है, जिनसे हमें कुछ सीखने-समझने को मिलता है।

आज का यह एक दिन 83 लाख पूर्व को अपने में समेटे हुए है।

जब राजकुमार ऋषभदेव युवावस्था को प्राप्त हुए तो उनके माता-पिता को उनके विवाह करने का विकल्प आया। वे सोचने लगे कि ऋषभ तो एकदम आध्यात्मिक प्रकृति के युवक हैं, रागरंग में उनका मन लगता ही नहीं है, वे तो निरन्तर आत्मचिन्तन में ही रत रहते हैं। उन्हें विवाह करने के लिए राजी करना आसान बात नहीं है। लगता तो ऐसा है कि वे शादी करेंगे ही नहीं। फिर भी हमारा कर्तव्य तो यही है कि हम उन्हें शादी करने के लिए प्रेरित करें, उनके योग्य वधु की तलाश करें; फिर जो होना होगा, होगा तो

वही।

महाराजा नाभिराय और महारानी मरुदेवी ने परस्पर विचार-विमर्श करके राजकुमार ऋषभदेव से शादी करने के सन्दर्भ में चर्चा करने का निश्चय किया।

नाभिराय बोले-"ऋषभ बहुत ही बुद्धिमान और विवेकी राजकुमार हैं। उनसे तर्क-वितर्क में जीतना तो आसान नहीं है, फिर भी हमें उन युक्तियों पर विचार कर लेना चाहिए, जिनके आधार पर उन्हें शादी के लिए राजी किया जा सके।"

महारानी मरुदेवी बोली-"तुम्हारे तर्क-वितर्क से कुछ नहीं होने वाला है, उनके हृदय को तो भावुकता से ही मोड़ा जा सकेगा। **हजारों तर्क-वितर्क जहाँ निष्फल हो जाते हैं, हृदय को पिघला देने वाली भावनाओं का उद्वेग वहाँ भी रास्ता निकाल लेता है।** अत: मैं तो उसे भावना के वेग में ही बहाऊंगी। मुझे विश्वास है कि मेरी आन्तरिक भावना अवश्य सफल होगी। **माँ की ममता को कौन ठुकरा सकता है ?**"

"बात तो तुम ठीक ही कहती हो, क्योंकि **नारियों की सबसे बड़ी शक्ति ही भावावेग है;** पर तुम यह क्यों भूल जाती हो कि **भावावेग का यह शस्त्र भी रागियों पर ही चलता है, वैरागियों पर नहीं। यदि वैरागी भी इससे परास्त होने लगते तो अब तक कोई दीक्षा ही न ले पाता, क्योंकि इस शस्त्र का प्रयोग तो प्रत्येक माँ करती है, पत्नियाँ भी करती हैं, पर असली वैरागी को तो आज तक न तो कोई माँ रोक सकी है और न कोई पत्नी। विवेकी वैरागियों पर न तर्क का वश चलता है और न वे भावनाओं के वेग में ही बहते हैं।** अत: ऋषभ पर न तो तुम्हारी भावनाओं का असर होना है और न मेरे तर्कों का।"

"तुम तो हमेशा निराशा की ही बात करते हो। कुछ भी हो, हमें समझाना तो होगा ही, बात तो करनी ही होगी। हो सकता है, वह हमारी बात मान ही ले, हमारे दिल को न तोड़े।"

"बात तो करनी ही है, क्योंकि यह हमारा कर्तव्य भी है कि हम उसके विवाह की व्यवस्था करें, तदर्थ प्रयत्नपूर्वक उसे राजी करें। **प्रत्येक माँ-बाप का यह कर्तव्य है कि वह अपनी संतान की समुचित शिक्षा-दीक्षा के बाद उसकी शादी करे, उसे गृहस्थधर्म में नियोजित करें।** हमें भी अपने इस कर्तव्य का पालन करना ही है, पर व्यर्थ की कल्पनाओं के पुल बांधना

अच्छा नहीं है, क्योंकि यदि वह शादी के लिए राजी न हुआ तो फिर अधिक संक्लेश होगा। अतः सहजभाव से ही अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए।"

"तुम तो पहले से ही यह मानकर चल रहे हो कि ऋषभ शादी के लिए राजी होगा ही नहीं, तो फिर तुम जोर भी कैसे दोगे ? तुम्हें अपने तर्कों पर भरोसा ही नहीं है; **जिसे अपने शस्त्रों पर ही भरोसा न हो, उसकी हार तो निश्चित ही है।"**

"तुम्हें तो अपने हथियार पर पूरा भरोसा है न ? युद्ध के मैदान में मैं अकेला थोड़े ही जा रहा हूँ, तुम भी तो हो साथ में; यदि मैं हार भी गया तो क्या होता है, तुम्हारे विश्वास के अनुसार तुम तो जीतोगी ही। तुम जीती तो मैं भी जीता, क्योंकि हमारी तुम्हारी जीत-हार कोई अलग-अलग थोड़े ही है।"

"तुम्हारे तर्क से तो मैं जीत नहीं सकती, पर अब चलो भी, जो होगा सो देखा जायेगा। **पुत्र से क्या जीतना और क्या हारना ? पुत्रों से जीतने में तो जीत है ही, हारने में भी जीत ही है, यहाँ तो जीत ही जीत है, हार है ही नहीं; निराश मत होओ, चलो, जल्दी चलो।"**

"इतनी जल्दी भी क्या है, मुझे अपने तर्क-वितर्क को व्यवस्थित कर लेने दो; मैं भी आसानी से हार मानने वाला नहीं हूँ। अन्त में जो भी हो, पर मैं अपनी बात पूरी शक्ति से तो रखूंगा ही।"

"जाने भी दो, क्यों श्रम करते हो, अन्त में तो मेरे आँसू ही काम आयेंगे।"

"हाँ भाई, चलो। पर यह याद रखना कि **जिसके पास विवेक की ढाल है, उस पर तर्क के तीर काम नहीं करते और जिसके पास वैराग्य का बल है, उस पर आंसुओं की बौछारों का कोई असर नहीं होता।** हमारा ऋषभ विवेक का भी धनी है और वैराग्य के बल से भी सुसज्जित है।"

इसप्रकार वे दोनों जने हार-जीत की शंका-आशंकाओं में डूबते-उतराते हुए ऋषभ के कक्ष की ओर जा ही रहे थे कि देखते हैं कि राजकुमार ऋषभ तो इधर ही आ रहे हैं।

"आओ, पुत्र ऋषभ ! हम तुम्हारे पास ही आ रहे थे। एक बहुत जरूरी बात करनी है।"

"आज्ञा दीजिए तात ! आपकी प्रसन्नता के लिए मुझे क्या करना है ?"

"यहाँ खड़े-खड़े बात थोड़े ही होगी, बड़ी ही गंभीर बात है। लम्बे विचार-विमर्श की जरूरत है, चलो तुम्हारे कक्ष में बैठकर शान्ति से बात करेंगे।"

"चलिये, आगे आप चलिये।"

इसप्रकार वे सभी राजकुमार ऋषभ के कक्ष में जा पहुँचे और लम्बी भूमिका बांधते हुए नाभिराय समझाने लगे कि-"बेटा अब तुम जवान हो गये हो, सब प्रकार सुयोग्य हो; हम जानते हैं कि तुम्हें इस संसार में कोई रस नहीं है, तुम तो आत्मा में लीन होना चाहते हो; पर गृहस्थी में भी यह सब तो हो सकता है, गृहस्थ भी एक धर्म है, हमारी कामना है कि अब तुम गृहस्थ धर्म में प्रवेश करो।"

नाभिराय ने बड़ी चतुराई से बात रखी थी। वे जानते थे कि शादी की बात से तो ऋषभ का चित्त बातचीत से ही विरक्त हो जाएगा। ऋषभ की धर्मरुचि देखकर उन्होंने शादी की बात भी गृहस्थ धर्म में प्रवेश करो - इस भाषा में रखी थी। पर ऋषभ जैसे प्रज्ञा के धनी राजकुमार को समझते देर न लगी, पर वे कुछ बोले नहीं।

अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए नाभिराय आगे कहने लगे कि-"तुम्हारी माँ की कामना तो तुम्हें पूर्ण करनी ही होगी। हमने तुम्हारे लिए एक से एक सुन्दर अनेक कन्यायें देखी हैं। बस तुम्हारी हाँ करने की देर है।"

"ठीक है, जैसी आपकी इच्छा" - कहते हुए ऋषभदेव बाहर चले गये।

इतनी आसानी से ऋषभ की 'हाँ' सुनकर नाभिराय और मरुदेवी चकित रह गये।

माँ मरुदेवी कहने लगी कि-"हम तो सोचते थे कि उसे यह बात स्वीकृत कराने में दाँत-पसीना एक करना होगा, पर यहां तो कुछ करना ही न पड़ा, मानो वह हमारे प्रस्ताव की प्रतीक्षा ही कर रहा था। हमने इतने दिनों से कोई बात क्यों नहीं की, हमें तो बहुत पहले यह प्रस्ताव करना था। उसने तो औपचारिक 'ना' भी नहीं कही। उसके ऊपरी वैराग्य को देखकर हम तो यह समझने लगे थे कि यह तो शादी करेगा ही नहीं, पर ---।"

बीच में ही टोकते हुए नाभिराय बोले -"तुम समझती तो हो नहीं, **महापुरुषों की वृत्ति और प्रवृत्ति अत्यन्त सरल और सहज होती है। वे**

मनाने और मनवाने में विश्वास नहीं करते। वे नकली 'हाँ' और 'ना' नहीं करते। 'मन में हो और मूंढ हिलावे' वाली प्रवृत्ति उनकी नहीं होती।

यदि ऋषभ ने औपचारिक भी ना नहीं की तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे हमारे प्रस्ताव की प्रतीक्षा कर रहे थे। इसीप्रकार उनकी तत्त्वरुचि और वैराग्य भी ऊपरी नहीं है, गृहस्थ की भूमिकानुसार ही हैं। गृहस्थ धर्म में ऐसा ही होता है, अंतरंग रुचि भी रहती है, उचित वैराग्य भी रहता है और भूमिकानुसार राग भी होता ही है।

उनकी यह वृत्ति और प्रवृत्ति तो उनके योग्य ही है, हमने ही उन्हें समझने में भूल की थी। लोक में ऐसा बहुत होता है कि सहज तत्त्वरुचि एवं समुचित वैराग्य को देखकर लोग उनसे अधिक अपेक्षा करने लगते हैं, पर जब वैसा नहीं देखते हैं तो रुचि और वैराग्य को ऊपरी मानने लगते हैं।

महापुरुषों के मन को जानने के लिए भी उन जैसा ही सूक्ष्म मन चाहिए।

देखो, नाभिराय की यह बात कितनी वजनदार है, क्योंकि अभी तो ऋषभदेव को 63 लाख पूर्व तक गृहस्थी में रहना है, राजकाज संभालना है; अभी से उनके दीक्षित होने की कल्पना उनके वर्तमान मानस का सही आकलन नहीं था। तात्पर्य यह है कि गृहस्थी में रहकर भी ऋषभदेव जैसी तत्त्वरुचि और वैराग्य संभव है।

बात तो यहाँ तक पहुँची कि जब राजा ऋषभदेव 83 लाख पूर्व की आयु को भी पूर्ण कर चुके और दीक्षित नहीं हुए तो इन्द्र को भी यह चिन्ता होने लगी कि ये तो गृहस्थी में ही रमे हैं, इनसे तीर्थ की प्रवृत्ति कब होगी ? अब आयु ही कितनी बची है, बस एक लाख पूर्व। ऐसा कोई प्रयास किया जाना चाहिए, जिससे इन्हें वैराग्य हो, ये दीक्षा ग्रहण करें, इन्हें केवलज्ञान हो, इनकी दिव्यध्वनि खिरे और इनके धर्मोपदेश से धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति हो।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि एक लाख पूर्व क्या कम होते हैं ? पर भाई जिनकी 84 लाख पूर्व आयु हो, उनके लिए तो कम ही हैं। आप कल्पना कीजिए कि उनकी आयु 84 लाख पूर्व नहीं, 84 वर्ष की थी, जिसमें 83 वर्ष समाप्त हो गये, मात्र एक वर्ष बचा। अब आप ही सोचिए कि क्या तीर्थ प्रवर्तन के लिए एक वर्ष पर्याप्त है ? अतः इन्द्र का चिन्तित होना स्वाभाविक ही है।

यहाँ बात तो यह चल रही है कि जिन्हें अभी 63 लाख पूर्व तक गृहस्थी में रहना है, उनकी वृत्ति व प्रवृत्ति देखकर हम यह समझ लें कि ये तो शादी

ही न करेंगे, शीघ्र ही दीक्षित होंगे, यह आकलन सही तो नहीं है।

जब इन्द्र ने उन्हें वैराग्य दिलाने का उपाय सोचा तो उन्हें विरक्त करने के लिए अल्पायु नीलांजना को भेजा। नीलांजना की चर्चा तो कल दीक्षाकल्याणक के दिन होगी, पर यहाँ तो मात्र इतना बताना है कि 83 लाख पूर्व की आयु में भी ऋषभ देवांगनाओं का नृत्य देखा करते थे।

भाई, **एक ही भूमिका के ज्ञानियों के संयोगों और संयोगीभावों में महान अंतर हो सकता है। कहाँ क्षायिक सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र और कहाँ सवार्थसिद्धि के क्षायिक सम्यग्दृष्टि अहमिन्द्र। सौधर्म इन्द्र तो जन्मकल्याणक में आकर नाभिराय के दरबार में ताण्डव नृत्य करता है और सवार्थसिद्धि के अहमिन्द्र दीक्षाकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और मोक्षकल्याणक में भी नहीं** आते, **दिव्यध्वनि सुनने** तक **नहीं** आते।

संयोग और संयोगीभावों में महान अन्तर होने पर भी दोनों की भूमिका एक ही है, एक सी ही है। अतः **संयोगीभावों के आधार पर राग या वैराग्य का निर्णय करना उचित नहीं है, ज्ञानी-अज्ञानी का निर्णय भी संयोग और संयोगीभावों के आधार पर नहीं किया जा सकता।**

एक ओर तो ऋषभदेव के यौवनागम में ही ऐसी प्रवृत्ति कि माँ-बाप को भी यह भ्रम हो जाय कि यह शादी ही न करेगा और दूसरी ओर 83 लाख पूर्व की वृद्धावस्था में नीलांजना का नृत्य देखना - क्या इसमें कुछ विरोधाभास नहीं लगता ?

इसमें कुछ भी विरोधाभास नही है, मात्र भूमिका की सही जानकारी नहीं होना ही भ्रम उत्पन्न करता है। माता-पिता के अति अनुराग में भी ऐसा हो सकता है। मेरा पुत्र दीक्षित न हो जाय - यह आशंका उनके चित्त को इतना अधिक विचलित कर देती है कि उन्हें अपने पुत्र की जरा सी वैराग्यवृत्ति सशंक कर देती है। नाभिराय और मरुदेवी का यह सोचना कि यह तो शादी करेगा ही नहीं, मात्र उनके अति अनुराग को ही सूचित करता है, इससे अधिक कुछ नहीं।

उक्त वैराग्यमयी सदाचारी जीवन में भी उन्हें शादी करने का सहज राग था ही, तदनुसार ही उन्होंने हाँ की थी। माता-पिता के अनुरोध के कारण उन्होंने शादी की स्वीकृति, इच्छा नहीं होते हुये भी दे दी थी - यह बात कदापि नहीं थी। **महापुरुषों की "हाँ" को कोई "ना" में नहीं बदल सकता और न "ना" को "हाँ" में ही बदल सकता है।**

तीर्थंकर ऋषभ के जन्म से सौधर्म इन्द्र इतना आनन्द विभोर हो उठता है कि वह नाचने लगता है। **अतिशय भक्ति में बिना कार्यक्रम के ही नाच उठना अलग बात है और सुनियोजित भीड के सम्मुख अपनी कला प्रदर्शन के लिए नाचना अलग बात है; दोनों में मुहर-कोड़ी का अन्तर है।**

इस मूढ जगत को प्रसन्न करने के लिए तो वेश्यायें नाचा करती हैं। भक्ति में विभोर होकर जब हमारा मन मयूर नाच उठता है तो कदाचित् तन भी नाचने लगता है।

लोग कहते हैं कि "जंगल में मोर नाचा, किसने देखा ?" पर मोर को यह अपेक्षा ही कहाँ है कि कोई उसके नृत्य को देखे। बल्कि बात तो ऐसी है कि यदि मोर को यह अनुभव हो जावे कि कोई उसे देख रहा है तो वह नाचना ही बंद कर देगा, क्योंकि वह किसी को दिखाने के लिए नहीं नाचता है। उसका नृत्य तो आकाश में बादलों को देखकर होने वाले प्रमुदित मन का परिणाम है। वह तो स्वान्त:सुखाय ही नाचता है, किसी को प्रसन्न करने के लिए नहीं। उसका नृत्य तो उसके हृदय की प्रसन्नता का परिणाम है, न कि किसी अन्य को प्रसन्न करने के लिए।

ज्ञानियों की भक्ति भी उनके प्रमुदित मन का परिणाम होती है, किसी अन्य की प्रसन्नता के लिए नहीं। इन्द्र भी सहज भक्तिवश नाचता है, प्रदर्शन के लिए नहीं। तीर्थंकर ऋषभ का जन्मकल्याणक देखकर हमारा मन मयूर नाच उठे तो हम भी नाचे, कोई हानि नहीं; पर जगत के लक्ष्य से नृत्य करना भक्ति नहीं है।

प्रदर्शन की भावना से नाचने वाले लोग भगवान की ओर उन्मुख होकर नहीं नाचते, वे तो जनता की ओर उन्मुख होते हैं, भले ही भगवान की ओर उनकी पीठ ही क्यों न हो जावे। उन्हें इतना भी विवेक नहीं रहता, क्योंकि उनका लक्ष्य तो जनता की वाह-वाह लूटना है। उनके हृदय में भक्ति का परिणाम भी कहाँ है, वहाँ तो यश की कामना ही हिलौरे लेती नजर आती है।

हमारे इन पंचकल्याणकों में मंच पर पिछले पर्दे के पीछे अप्रतिष्ठित जिनप्रतिमाएं विराजमान रहती हैं और अगले पर्दे के सामने अप्रतिष्ठित जनता। दोनों पर्दों के बीच कुछ प्रतिष्ठित लोग बैठे रहते हैं, जो निरन्तर अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने या प्रतिष्ठा बढाने के चक्कर में रहते हैं। प्रतिष्ठा महोत्सव के माध्यम से अपनी प्रतिष्ठा बढाने के व्यामोह में फंसे इन

लोगों से मैं विनम्र अनुरोध करना चाहता हूँ कि यह तो जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा का महोत्सव है, इसे अपनी प्रतिष्ठा का साधन बनाना ठीक नहीं है। अपने हृदय में आत्मभावना प्रतिष्ठित करने का यह अमूल्य अवसर है, अतः इस अवसर पर तो अपने परिणामों को सरल व सहज बनाने का यत्न किया जाना चाहिए।

आज तक का समय राग-रंग का था, नाच-गाने का था, सो आपने खूब नाच-गा लिया, अब कल से वैराग्य का प्रसंग आ जायगा। आपका यह नाचना-गाना सब बन्द हो जायगा।

गर्भकल्याणक और जन्मकल्याणक के दिन जनता की अपार प्रसन्नता के दिन होते हैं, राग-रंग के दिन होते हैं और उसके बाद के कल्याणक वैराग्य और वीतरागता के होते हैं। यह महोत्सव राग से वैराग्य की ओर ले जाने वाला महोत्सव है।

जिन पंचकल्याणकों में साधु संतों की उपस्थिति रहती है, उनमें साधु संत गर्भकल्याणक और जन्मकल्याणक के उत्सवों में सम्मिलित नहीं होते। वे तो दीक्षाकल्याणक में ही आते हैं। वे कहते हैं कि इन राग-रंग के कल्याणकों में हमारा क्या काम ? हम तो वैराग्य के प्रसग में ही आवेंगे।

मुनिराजों की तो क्या कहें, लोकांतिक देव भी दीक्षाकल्याणक के पहले नही आते, क्योंकि वे ब्रह्मचारी होते हैं। ऊपर के अहमिन्द्र भी नहीं आते, क्योंकि उनके भी प्रविचार का पूर्णतः अभाव होता है। अहमिन्द्रों के देवांगनाएँ भी नही होती।

इन्द्र-इन्द्राणियों, राजा-रानियों का एक साथ नाचना-गाना साधु-संतों को, ब्रह्मचारियों को कैसे सुहा सकता है ? क्योंकि वे तो इस राग-रंग की भूमिका को पार कर चुके होते हैं।

यह राग-रंग की बात आज तक ही है, कल से सब बंद।

राजा ऋषभदेव की दो पत्नियाँ थी-नन्दा और सुनन्दा। नन्दा को यशस्वती भी कहते हैं। ये दोनो महाराजा कच्छ महाकच्छ की बहिनें थी।

महारानी नन्दा से भरतादि सौ पुत्र और ब्राह्मी नामक पुत्री और सुनन्दा से बाहुबली नामक पुत्र और सुन्दरी नामक पुत्री हुई थी।

जिनके नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा, वे सम्राट भरत चक्रवर्ती राजा ऋषभदेव के ही प्रथम पुत्र थे।

राजा ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को तो शस्त्रादि कठोर विद्याओं में निपुण बनाया; पर अक्षरविद्या और अंकविद्या ब्राह्मी और सुन्दरी को सिखाई। इससे एक बात तो अत्यन्त स्पष्ट है कि महिलाओं की शिक्षा के संदर्भ में राजा ऋषभ देव क्या सोचते थे ? आज जिसे हम शिक्षा कहते हैं, वह तो मूलतः तो महिलाओं की ही विद्या है, क्योंकि राजा ऋषभदेव ने ये विद्यायें अपनी पुत्रियों को ही सर्वप्रथम सिखाई थीं। हमारे दुर्भाग्य से बीच का कुछ समय ऐसा आया, जिसमें हमारी माँ-बहिनों को शिक्षा से वंचित रखा गया और कहा गया कि महिलाओं को पढ़ने-लिखने की क्या आवश्यकता है ? महिलाओं की शिक्षा का विरोध करने वालों को इस तथ्य की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

हमारी लिपि का नाम ब्राह्मी लिपि भी राजा ऋषभदेव की प्रथम पुत्री के नाम पर ही रखा गया था; क्योंकि इस अवसर्पिणी काल में कर्मभूमि के आरंभ में सर्वप्रथम लिपि का ज्ञान ऋषभदेव द्वारा ब्राह्मी को ही दिया गया था। अतः इस लिपि का नाम भी इसी के नाम पर चल पड़ा।

कहा जाता है कि राजा ऋषभदेव अपनी दायीं जंघा पर ब्राह्मी को और बायीं जंघा पर सुन्दरी को बिठाकर एक साथ उन्हें अक्षरविद्या और अंकविद्या का शिक्षण देते थे। यही कारण है कि अक्षरविद्या तो बाईं से दाईं ओर लिखी जाती है और अंकविद्या ऊपर से नीचे की ओर लिखी जाती है ; क्योंकि बायें हाथ से ऊपर से नीचे की ओर लिखना ही सुविधाजनक रहता है।

कर्मभूमि की सभी विद्याओं और कलाओं के मूलजनक राजा ऋषभदेव ही हैं। यदि वे युवावस्था के आरंभ में ही दीक्षित हो जाते तो इन विद्याओं और कलाओं का विकास कैसे होता ? वस्तुतः तीर्थंकर ऋषभदेव तीर्थ प्रवर्तक होने के साथ-साथ युग प्रवर्तक भी हैं; हमें यह बात भी नहीं भूलनी चाहिए।

वह समय युग की आदि का समय था, कर्मभूमि आरंभ ही हुई थी। लोगों को कर्मभूमि की व्यवस्था का कुछ भी ज्ञान नहीं था। कल्पवृक्ष समाप्त हो गये थे। खान-पान की व्यवस्था श्रम साध्य हो गई थी। लोगों को अनाज उगाने और खाना पकाने की विधि भी ज्ञात न थी। यह सब रूप-रेखा भी ऋषभदेव को ही व्यवस्थित करनी थी। अतः उनका लम्बे समय तक राज-काज संभालना युग की आवश्यकता थी।

कर्मभूमि के आद्य सूत्रधार वे ही थे। उनका जीवन और उनके द्वारा दी गई व्यवस्था हमारे गृहस्थ जीवन का मूल आधार है। उनके जीवन में हमें वे सभी उपादान प्राप्त हो सकते हैं; जो हमारे गृहस्थ जीवन को सुव्यवस्थित बना सकते हैं। उनका जीवन हम सबके लिए एक आदर्श जीवन है। हमें अपने जीवन को उनके जीवन के अनुसार व्यवस्थित करना चाहिए।

इसप्रकार यह जन्मकल्याणक के अवसर पर ऋषभदेव के गृहस्थ जीवन की संक्षिप्त चर्चा हुई।

अब कल दीक्षाकल्याणक का दिन है, जिसमें उनके वैराग्यमयी साधुजीवन का दिग्दर्शन होगा।

विवेक और अविवेक का खेल

जहाँ विवेक है, वहाँ आनन्द है, निर्माण है और जहाँ अविवेक है, वहाँ कलह है, विनाश है। समय तो एक ही होता है; पर जिस समय अविवेकी निरन्तर षड्यन्त्रों में संलग्न रह बहुमूल्य नरभव को यों ही बरबाद कर रहे होते हैं; उसी समय विवेकीजन अमूल्य मानव भव का एक-एक क्षण सत्य के अन्वेषण, रमण एवं प्रतिपादन द्वारा स्व-पर हित में संलग्न रह सार्थक व सफल करते रहते हैं। वे स्वयं तो आनन्दित रहते ही हैं, आसपास के वातावरण को भी आनन्दित कर देते हैं।

इसप्रकार क्षेत्र और काल एक होने पर भी भावों की विभिन्नता आनन्द और क्लेश तथा निर्माण और विध्वंस का कारण बनती है - यह सब विवेक और अविवेक का ही खेल है।

- सत्य की खोज, अध्याय 33, पृष्ठ 184

छटवाँ दिन

दीक्षाकल्याणक

आज दीक्षाकल्याणक का दिन है। पंचकल्याणक महोत्सव का छटवाँ दिन और पंचकल्याणक का तीसरा दिन। दीक्षाकल्याणक के सन्दर्भ में तीन बातों पर विचार करना आवश्यक है।

(1) नीलांजना का नृत्य, जिसके कारण ऋषभदेव को वैराग्य हुआ था।

(2) चार हजार मुनिराज, जो ऋषभदेव के साथ दीक्षित हुए थे।

(3) आहारदान, जिसके लिए मुनिराज ऋषभदेव को 6 माह तक भटकना पड़ा था।

आज प्रातः आपने राजा ऋषभ के दरबार में नीलांजना के नृत्य का दृश्य देखा है। नृत्य करते-करते बीच में ही नीलांजना की मृत्यु हो गई। राजा ऋषभदेव एवं अन्य दर्शकों के मनोरंजन में विघ्न उपस्थित न हो; तदर्थ तत्काल वैसी ही अन्य देवांगना प्रस्तुत कर दी गई। लोगों को पता ही न चला कि नृत्यांगना बदल गई है; पर ऋषभदेव की सूक्ष्मदृष्टि से यह बात छुपी न रह सकी।

जगत के इस स्वार्थीपन ने उनके चित्त को विरक्त कर दिया। वे सोचने लगे कि हमारा मनोरंजन इतना महत्वपूर्ण हो गया कि जिसके द्वारा हमारा मनोरंजन हो रहा है; उसकी मौत की कीमत पर भी हमारे रंग में भंग नहीं पड़ना चाहिए।

उनके वैराग्य का कारण नीलांजना की मौत नहीं थी; अपितु जगत की यह निष्ठुरता थी। मौतें तो उन्होंने अनेक देखी होंगी। अनित्यादि भावनाओं के चिन्तन में पर्याय की क्षणभंगुरता भी उनके ज्ञान ध्यान में प्रतिदिन आती थी। मौत उनके लिए अनजानी और अबूझ नहीं थी। किसी की मृत्यु देखकर वैराग्य होना होता तो 83 लाख पूर्व में कभी का हो गया होता।

इस बात की गंभीरता से अवगत होने के लिए आपको एक कठोर कल्पना करनी होगी। मैं प्रवचन कर रहा हूँ और आप सब शान्ति से सुन रहे हैं। ऐसे में ही अचानक प्रवचन करते-करते मेरी हृदयगति रुक जाय

और मेरा देहावसान हो जाय तो आप क्या करेंगे ? आप घबड़ाइये नहीं, मुझे कुछ भी होने वाला नहीं है। मैं तो मात्र उदाहरण दे रहा हूँ। हाँ तो आप सोचिए कि क्या करेंगे आप ?

एक तो यह हो सकता है कि आप सब गमगीन हो जाँय, कार्यक्रम रुक जाय और दूसरा यह भी हो सकता है कि यदि पण्डित मर गया है तो हटाओ इसकी लाश जल्दी से, दूसरा विद्वान बुलवाओ और प्रवचन आरंभ करवाओ। कार्यक्रम भंग नहीं होना चाहिए, मरना-जीना तो लगा ही रहता है।

क्या आप इस दूसरी बात को बरदास्त कर पावेंगे ? नहीं तो आप समझ लीजिए कि यह बात ऐसी ही हुई कि एक नृत्यांगना मर गई तो दूसरी हाजिर, पर नृत्य नहीं रुकना चाहिए। इसी प्रसंग ने ऋषभदेव के हृदय को मथ डाला था और उनका चित्त इस स्वार्थी जगत से पूर्णतः विरक्त हो गया था।

जब भी मैं इसप्रकार की चर्चा करता हूँ तो कुछ लोग बहुत क्षुब्ध हो जाते हैं। वे मेरे पास आते हैं और कहते हैं कि आप ऐसा अशुभ उदाहरण नहीं दिया करें, हमें यह अच्छा नहीं लगता। उनसे मैं एक ही बात कहता हूँ कि इसमें अशुभ क्या है ?

क्या मुझे मरना नहीं है ? एक न एक दिन तो सभी को मरना है। हम रोज ही तो पढ़ते हैं कि---

"राजा राणा छत्रपति हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन अपनी-अपनी वार।।"

क्या यह अनित्य भावना का चिन्तन अशुभ है ? नहीं तो मरने की बात अशुभ कैसे हो गई ? यह तो वैराग्योत्पादक बात है। यही जानकर पहली ही भावना में इसकी चर्चा की गई है।

इस पर वे कहते हैं कि आपकी ऐसी दर्दनाक मौत क्यों हो ? पर मेरा कहना यह है कि इससे अच्छी और कौनसी मौत होगी ? क्या सड़-सड़ कर, गल-गल कर, वर्षों निष्क्रिय पड़े रहकर मरना अच्छा है ? अरे भाई प्रवचन करते-करते मरना ही सबसे अच्छी मौत है। इसमें असंभव भी क्या है? जब एक क्षत्रिय घोड़े की पीठ पर सवारी करता हुआ ही युद्ध के मैदान में मरता है; जब एक बनिया दुकान पर ग्राहक पटाते-पटाते ही मरना चाहता है तो एक पण्डित प्रवचन करते-करते मरे तो कौनसा गजब हो गया ?

जब हम यह बोलते हैं कि---

"चाहे लाखों वर्षों तक जीऊं, या मृत्यु आज ही आ जावे।"

तो उसका क्या अर्थ होता है ? यही न कि हम हर समय मरने को तैयार है तो फिर किसी भी स्थिति में मरने को अशुभ कैसे कहा जा सकता है ?

जो भी हो, पर यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि ऋषभदेव को वैराग्य, जगत की इस निष्ठुरता और स्वार्थीपन को देखकर ही हुआ था।

जब नेमिनाथ भगवान विधिनायक होते हैं, तो वैराग्य के प्रसंग में नीलांजना का नृत्य न दिखाकर नेमिनाथ की बरात का दृश्य दिखाते हैं। उसके सन्दर्भ में भी एक बात विचारणीय है। कहा जाता है कि बारातियों के भोजन के लिए कुछ पशुओं को बाड़े में बन्द रखा गया था। उन्हें मारकर उनकी भोज्यसामग्री बननी थी। उन पशुओं का बंधन और करुण क्रन्दन सुनकर नेमिनाथ को वैराग्य हो गया।

इसमें विचारने की बात यह है कि क्या उस कुल में भी मांस-भक्षणादि कार्य चलते थे, जिसमें तीर्थंकरों का जन्म होता है ? नेमिनाथ के तो गर्भकल्याणक और जन्मकल्याणक भी हो चुके थे। सब जग को विदित हो चुका था कि ये तीर्थंकर हैं। फिर भी क्या उनकी बारात की व्यवस्था में इसप्रकार की भोज्य सामग्री परोसी जा सकती थी ?

ऐसा लगता है कि कहीं कुछ गलतफहमी अवश्य हुई है। शास्त्रों में आखिर यही तो कहा गया है कि पशुओं का बंधन देखकर और करुण क्रन्दन सुनकर नेमिनाथ को वैराग्य हो गया। इसमें से यह कहाँ निकलता है कि वे पशु बारात की भोज्यसामग्री थे। इसकी व्याख्या करने वालों ने ही यह कमाल कर दिखाया है।

बात यों भी हो सकती है। नेमिनाथ की दीक्षा की तिथि श्रावण शुक्ल छटवी है। उन्हें वैराग्य भी दूलह के वेश में ही हुआ था। तात्पर्य यह है कि उनकी बारात द्वारका से झूनागढ श्रावण सुदी 6 को ही पहुँची थी। द्वारका और झूनागढ सौराष्ट्र में है, जहाँ आज भी बरसात में शादियाँ होती है।

गाय आदि पशुओं का प्रजनन भी आसाढ-श्रावण में ही होता है। नेमिनाथ की बारात के निकलने वाले मार्ग का यातायात रोक दिया गया था। अतः साम को जंगल से आने वाली गायें बल्लियों के बाडों में रुक गई थी। ताजी व्याही गाये अपने बछड़ों के लिए रंभा रहीं थीं। दूसरी ओर बछड़े भी माँ की प्रतीक्षा में बेचैन होकर रंभा रहे थे। यही दृश्य देखा था नेमिनाथ ने।

जब उन्होंने पूछा कि इन गायों को यहाँ क्यों रोका गया है, तब उन्हें बताया गया कि आपकी बारात निकल रही है न; इस कारण यातायात पुलिस ने इस मार्ग का यातायात रोक दिया है।

यह सुनकर नेमिनाथ इस विचार में चढ गये कि मेरी शादी के कारण ही ये गो-माताएं अपने बछड़ों से बिछुड़ गई हैं और जोर-जोर से पुकार रही हैं; पर इनकी पुकार सुनने वाला कौन है ? इनके इन दुखों का कारण मैं ही हूँ।

इसप्रकार के विचारों में मग्न नेमिनाथ जगत के स्वार्थीपन को देखकर विरक्त हो गये और दीक्षा लेने के लिए गिरनार की ओर चल दिये।

नेमिनाथ की विरक्ति का कारण भी जगत का स्वार्थ ही था। ये स्वार्थी जगत अपनी सुख-सुविधा के लिए दूसरों के सुख-दुख का जरा भी ख्याल नहीं रखता। ज्ञानीजनों को जगत की यह स्वार्थ वृत्ति बहुत खटकती है।

भाई, वैराग्य तो अन्तर की योग्यता पकने पर होता है; काललब्धि आने पर होता है। अन्तर की योग्यता पक जावे और काललब्धि आ जावे तो चाहे जिस निमित्त से वैराग्य हो सकता है। अपने सफेद बाल देखकर भी हो सकता है। न होना हो तो सम्पूर्ण बाल झड़ जावें, तब भी नहीं होता है।

नीलांजना का नृत्य तो अभी आपने भी देखा है, उसे मरते भी देखा है, उसके स्थान पर दूसरी को आते भी देखा है; पर आपको वैराग्य तो नहीं हुआ। आप तो यह देख-देखकर हँस रहे थे; मनोरंजन कर रहे थे। मैंने बारीकी से देखा है, किसी के चेहरे पर वैराग्य का नामोनिशान भी न था। ऐसा क्यों है ?

इन सबका एक ही उत्तर है कि अभी हमारी काललब्धि नहीं आई है, अभी हमारी पयार्यगत योग्यता नहीं पकी है। निमित्तों से क्या होता है, जबतक अन्तर की योग्यता का परिपाक न हो।

पशुओं के बंधन भी हमने कम नहीं देखे, उनका क्रन्दन भी खूब सुना है; पर हमारा दिल कहाँ पिघलता है ? अन्तर की तैयारी के बिना कुछ नहीं होता।

ऋषभदेव तो ज्ञानी थे, धर्मात्मा थे, पर जबतक दीक्षा के लिए उनका अन्तर तैयार नहीं हुआ, तबतक कुछ नहीं हुआ, जबतक काललब्धि नहीं आई, पर्यायगत योग्यता का परिपाक नहीं हुआ, उन्हें वैराग्य नहीं हुआ; उन्होंने दीक्षा नहीं ली। अन्दर की तैयारी बिना चार हजार राजाओं ने दीक्षा ले ली। क्या परिणाम निकला उसका ? अतः बात तो यही ठीक है कि जब

अन्दर की तैयारी हो, काललब्धि आ जावे, पर्यायगत योग्यता का परिपाक हो जावे तो निमित्त भी मिल ही जाता है और काम हो जाता है।

नेमिनाथ को पशुओं के बंधन और क्रन्दन से वैराग्य हो गया और आदिनाथ को वैराग्य होने में नीलांजना की मृत्यु निमित्त बन गई। समय आ गया तो सब कुछ सहज भाव से सम्पन्न हो गया।

राजा ऋषभदेव को वैराग्य हो गया तो उसकी अनुमोदना करने लौकान्तिक देव आये। उनकी पालकी उठाने के सन्दर्भ में इन्द्रों, विद्याधरों और राजाओं में जो संघर्ष हुआ, उसका दृश्य भी आज आपने देखा। प्रतष्ठाचार्यजी के माध्यम से उसकें बारे में सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त की। संयम धारण करने की शक्ति विद्यमान होने के कारण मनुष्यों को ही सर्वप्रथम पालकी उठाने का अवसर प्राप्त हुआ। इससे संयम की उत्कृष्टता सहज ही सिद्ध होती है।

यह तो आप जानते ही हैं कि संयम धारण किये बिना तो तीर्थंकरों को भी केवलज्ञान नहीं होता, मोक्ष नहीं होता; अतः संयम ही श्रेष्ठ है। इस सन्दर्भ में दशलक्षण पूजन का निम्नांकित छन्द ध्यान देने योग्य है:-

"जिस बिना नहीं जिनराज सीझें तू रुलो जग कीच में।
इक घरी मत विसरौ करौ, यह आयु जनमुख बीच में।।"

यद्यपि संयम जीवन में एक घड़ी भी विसारने लायक नहीं है; तथापि बिना पूरी तैयारी के किसी की नकल पर संयम धारण कर लेना भी बुद्धिमानी का काम नहीं है।

महाराजा ऋषभदेव ने दीक्षा ली तो उनके साथी सहयोगी चार हजार राजाओं ने भी बिना विचारे देखा-देखी उनके साथ दीक्षा ले ली। मुनिराज ऋषभदेव दीक्षा लेते ही ध्यानस्थ हो गये। वे अपने आत्मा के चिन्तन, मनन, विचार और ध्यान में ऐसे मग्न हुए कि 6 माह तक ध्यानस्थ ही खड़े रहे। उन्होंने किसी को यह तो बताया नहीं था कि मैं लगातार छह माह तक ध्यानस्थ ही रहूँगा। अतः साथी राजा उनका मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए उनके ध्यान के भंग होने की प्रतीक्षा करते रहे; पर उनका ध्यान भंग न होना था, सो न हुआ।

जिन राजाओं ने ऋषभदेव के साथ दीक्षा ली थी, वे मुनिचर्या से पूर्णतः अनभिज्ञ थे; उन्होंने तो ऋषभदेव के भरोसे ही दीक्षा ली थी कि जैसा जो ऋषभदेव करेंगे, वैसा ही हम भी करेंगे। ऋषभदेव के मौन खड़े रहने के

कारण वे किंकर्तव्यविमूढ हो गये। उनकी समझ में ही कुछ नहीं आ रहा था कि क्या करें और क्या न करें ? भूख-प्यास सही नहीं जाती थी। आहार लेने की विधि से भी अपरिचित थे। अतः वन में कंद-मूल खाने लगे।

उनके इस धर्मविरुद्ध आचरण को देखकर इन्द्र को चिंता हुई कि इस तरह तो युग की आदि में ही मुनिधर्म बदनाम हो जावेगा। अतः इन्द्र ने आकर उन्हें डाँटा-फटकारा तो वे कहने लगे कि हम क्या करें, हमें तो कुछ पता नहीं है और ऋषभदेव मौन धारण किए हुए हैं। यदि मुनिधर्म छोड़कर घर वापिस जाते हैं तो सम्राट भरत से प्रताडना मिलेगी। अतः हम कुछ भी निश्चय नहीं कर पा रहे हैं। अब आप ही बताइये कि हम क्या करें ? हम तो वही करेंगे, जो आप बतावेंगे।

उनकी इस दीन-हीन किंकर्तव्यविमूढ दशा देखकर इन्द्र ने कहा कि तुम यह निर्ग्रन्थ वेश छोड़ दो, फिर चाहे जो करो; क्योंकि निर्ग्रन्थ दशा में इस प्रकार की प्रवृत्ति धर्म को बदनाम करती है।

इन्द्र की यह बात सुनकर उन्होंने वल्कलादि धारण कर लिए और कन्द-मूलादि भक्षण कर अपना जीवन बिताने लगे।

बिना कुछ सोचे-विचारे, मात्र देखा-देखी दीक्षा लेने वाले चार हजार राजाओं की दुर्दशा देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान के चारित्र धारण करने वालों की क्या स्थिति होती है ?

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि मुनिराज ऋषभदेव ने ऐसा क्यों किया ? या तो उन्हें अपने साथ दीक्षित नहीं होने देना था या फिर उन्हें सम्पूर्ण मुनिचर्या और उसके विधि-विधान को विधिवत समझाना था, उनका आचार्यत्व करना था। उनको इसप्रकार साथ लेकर मझधार में छोड़ देना तो समझदारी का काम नहीं है। उन राजाओं की तो गलती है ही, पर वे तो अजान थे; अतः उनसे गलती हो जाना तो स्वाभाविक ही था; पर ऋषभदेव तो सब समझते थे, उन्होंने अपनी जिम्मेदारी क्यों नहीं निभाई ?

भाई, ऋषभदेव से अनुमति लेकर थोड़े ही वे दीक्षित हुए थे। तीर्थंकरों का तो नियम है कि वे स्वयं दीक्षित होते हैं, किसी से दीक्षा नहीं लेते, किसी को दीक्षा देते भी नहीं हैं। वे तो दीक्षा लेते ही जीवन भर के लिए मौन धारण कर लेते हैं। वे किसी को साथ नहीं रखते, वे तो एकल विहारी ही होते हैं। वे आचार्यत्व भी नहीं करते। वे मुनिदिशा में किन्हीं दूसरों का बोझ नहीं उठाते।

केवलज्ञान होने के बाद उनकी दिव्यध्वनि अवश्य खिरती है, पर वे छद्मस्थ मुनिदशा में नहीं बोलते। दिव्यध्वनि भी सहज खिरती है, सर्वांग से खिरती है, मुँह से तो वे तब भी नहीं बोलते। दिव्यध्वनि की विस्तृत चर्चा कल केवलज्ञानकल्याणक के दिन होगी। आज तो तपकल्याणक का दिन है, अतः तपसम्बन्धी चर्चा ही अभीष्ट है।

जीवनभर के मौनव्रती ऋषभदेव उन्हें क्या समझाते, क्यों समझाते, कैसे समझाते ? उस समय आहारदान की भी विधि कोई नहीं जानता था, इसीकारण ऋषभदेव को बिना आहार के सात माह और नौ दिन तक भटकना पड़ा था। छह माह के उपवास के बाद सात माह और नौ दिन तक उन्हें आहार की विधि प्राप्त नहीं हुई; क्योंकि उस समय किसी को आहारदान की विधि ही ज्ञात नहीं थी।

इस बात की विशेष चर्चा तो अभी आहारदान के प्रकरण में करेंगे। अभी यहाँ तो मात्र इतना ही बताना है कि उन्हें स्वयं भी आहार नहीं मिला, फिर भी उन्होंने किसी को आहारदान की विधि नहीं बताई तो फिर राजाओं को समझाने के विकल्प में वे क्यों उलझते ?

गाँव-गाँव में आहारदान की विधि पर ही निरन्तर व्याख्यान करने वाले साधु-संतों को मुनिराज ऋषभदेव की इस वृत्ति पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

देखो, कैसा विचित्र है वस्तु का स्वरूप और कैसी विचित्र है इस जगत की स्थिति। पहले, दूसरे और तीसरे काल में जब यहां भोगभूमि थी तो सभी जीव मर कर स्वर्ग ही जाते थे, न तो किसी को मोक्ष होता था और न कोई नरक या तिर्यन्च गति में ही जाता था; पर जब सर्वज्ञ-वीतरागी तीर्थंकर ऋषभदेव के उपदेश से मुक्ति का मार्ग उद्घाटित हुआ तो उसी समय नरक व तिर्यन्च गति का दरवाजा भी खुल गया।

जब धर्म की प्रवृत्ति आरंभ होती है तो उसका विरोध भी आरंभ हो जाता है और असली धर्मात्माओं से भी अधिक नकली धर्मात्मा खड़े हो जाते है। इसीप्रकार मुक्ति के मार्ग के साथ-साथ नरक निगोद का रास्ता भी खुल जाता है

कैसा विचित्र संयोग है कि ऋषभदेव के रूप में यदि एक व्यक्ति ने सच्चा मुनिधर्म अंगीकार किया तो रागवश या अज्ञानवश चार हजार लोगों ने बिना कुछ सोचे-बूझे मुनिवेष धारण कर लिया। यह अनुपात तो युग की आदि का

है। उसके बाद तो निरन्तर दशा बिगड़ी ही है। इससे हम आज की स्थिति का अनुमान लगा सकते हैं।

इसीप्रकार जब ऋषभदेव की दिव्यध्वनि के माध्यम से मुक्ति का मार्ग उद्घाटित हुआ तो मारीचि आदि के माध्यम से उसका विरोध आरंभ हो गया। इसप्रकार युग की आदि में ही जहाँ एक ओर ऋषभदेव की सच्ची साधुता और दिव्यध्वनि के माध्यम से मुक्ति के मार्ग का प्रचार-प्रसार हुआ, वहीं दूसरी ओर शिथिलसाधुता और वीतरागी तत्त्व के विरोध के माध्यम से नरक-निगोद का रास्ता भी खुल गया।

आज तो स्थिति अत्यन्त विषम है, पर आत्मार्थियों को इसमें उलझना उचित नहीं है; क्योंकि उनके शुद्ध-सात्विक प्रयासों से कुछ होना तो संभव है नहीं,उल्टे स्वयं की धर्माराधना संकट में पड़ सकती है। इसलिए सुरक्षित मार्ग तो यही है कि हम जगत की चिन्ता छोड़ क्षणभंगुर जीवन के जो भी क्षण शेष हैं, उन सभी को अपने आत्मकल्याण के लिए ही समर्पित कर दें। बिना किसी संकल्प-विकल्प के; बिना किसी झंझट में पड़े जितना जो संभव हो, उतना जिनवाणी का प्रचार-प्रसार करें; प्रचार-प्रसार के लोभ में अपने को अधिक उलझायें नहीं। शिथिलाचार को रोकना कोई साधारण काम नहीं है, वह तो शक्तिशाली, समर्थ लोगों का काम है। उन चार हजार नवदीक्षित राजाओं को भी तो इन्द्र ने ही रोका था, किसी साधारण व्यक्ति ने नहीं। यह काम तो समाज के उन कर्णधारों का है, जो समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं, समाज को संचालित करते हैं। यदि वे स्वयं शिथिलाचार का पोषण करते हैं तो फिर हम और आप क्या कर सकते हैं ? अतः मैं तो सभी आत्मार्थी बंधुओं से यही अनुरोध करता हूँ कि इसमें अपने को उलझायें नहीं। जो जैसा करेगा, वह वैसा भरेगा; हम किस-किस को बचाते फिरेंगे? हाँ, हम स्वयं वस्तु का सच्चा स्वरूप समझकर स्वयं को अवश्य बचा सकते हैं।

बाजार में यदि खोटा सिक्का चलता है तो उसे रोकने का काम सरकार का है। यदि हम उसे रोकने जावेंगे तो स्वयं उलझ सकते हैं। कहते हैं कि नकली सिक्का चलाने वालों के हाथ बहुत लम्बे होते हैं, वे लोग अत्यधिक संगठित होते हैं। वे बाधक बनने वालों को अपने रास्ते से हटाने के लिए कुछ भी कर सकते हैं। सरकार के हाथ उनके हाथों से भी लम्बे हैं। अतः सरकार ही चाहे तो उनके विरुद्ध कुछ कर सकती है।

इसीप्रकार समाज के सन्दर्भ में भी समझना चाहिए, शिथिलाचारी साधुओं के सन्दर्भ में भी समझना चाहिए।

हाँ, एक बात अवश्य है कि भले ही हम नकली सिक्कों को बाजार में चलने से न रोक सकें; पर इतनी सावधानी तो रखनी ही होगी कि वे नकली सिक्के हमारी जेब में न आ जाय। इसीप्रकार हम लोक में चलते हुए शिथिलाचार को भले ही न रोक पावें; पर हम स्वयं तो शिथिलाचारी न हो जावें, हमारे चित्त में तो शिथिलाचार और शिथिलाचारी प्रवेश न कर जावें। इतनी सावधानी तो हमें रखनी ही होगी।

स्वयं ऋषभदेव ने इसकी चिन्ता कहाँ की थी ? वे तो आत्मा में ही मग्न रहे, तब भी एक हजार वर्ष में केवलज्ञान प्राप्त कर सके। यदि हम इसप्रकार चाहे जहाँ उलझेंगे तो हमारा कोई ठिकाना ही न रहेगा और हम आत्महित से वंचित हो जायेंगे।

इस बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि कहीं दूसरों के सुधार के चक्कर में हम अपना अहित न कर बैठे। हमारी दशा भी उस चिड़िया के समान न हो जावे, जिसने बरसात में भीगते हुए बन्दर को यह सीख दी थी कि भाई तुम्हारे तो आदमी के समान हाथ-पैर हैं, तुम बरसात, धूप और सर्दी से बचने के लिए घर क्यों नहीं बनाते ? देखो, हमारे तो हाथ भी नहीं है, फिर भी हम अपना एक घोंसला बनाती हैं और उसमें शान्ति से रहती हैं, गर्मी, सर्दी और बरसात से बच जाती हैं।

भैया मेरी मानो तो तुम भी एक घर जरूर बना लो।

उसका सत्य और सार्थक उपदेश भी चंचल प्रकृति बंदर को सुहा नहीं रहा था। अतः वह एकदम चिड़चिड़ा कर बोला -- "तू चुप रहती है या फिर ------"

बेचारी चिडिया सहम गई, पर साहस बटोर कर फिर बोली --

"भैया, मैं तो तुम्हारी हित की बात कह रही थी। यदि तुम्हें बुरा लगता है तो कुछ नहीं कहूंगी। मुझे तो तुम पर दया आ रही थी। इसलिए इतना कह गई। बुरा क्यों मानते हो ? जरा सोचो तो सही, इसमें क्या बुरी बात है? तुम सर्वप्रकार समर्थ हो, बना लो न अपना घर------।"

चिड़िया अपनी बात पूरी ही न कर पाई थी कि बन्दर ने गुस्से में आकर उसका घोसला छिन्न-भिन्न कर दिया, तोड़ कर फेंक दिया और बोला --

"बड़ी आई दया दिखाने वाली। अब दिखा दया, अब तो तू भी हमारे समान ही बेघर हो गई। बोल, अब बोल; अब क्या कहना है तुझे ? और भी कोई उपदेश शेष हो तो वह भी दे ले।"

बेचारी चिड़िया चुप रह गई। करती भी क्या ? यदि हम दूसरों को सुधारने के विकल्प में अधिक उलझे तो हमारी दशा भी चिड़िया के समान ही हो सकती है। अतः समझदारी इसी में है कि हम अपने कल्याण की ही सोचें। जो लोग सत्य समझना चाहते हों, विनयवंत हों, सरल हृदय हों, उनके अनुरोध पर जो कुछ सत्य जानते हों, अवश्य बताना, समझाना, पर जो लोग सुनना ही न चाहें, समझना ही न चाहें, उन्हें समझाने के विकल्प में समय व शक्ति व्यर्थ गंवाना ठीक नहीं है।

इस प्रकार दो बातें हुईं। एक तो यह कि नीलांजना की मृत्यु पर जगत का निष्ठुर व्यवहार देखकर ऋषभदेव को वैराग्य हो गया और दूसरी बात यह कि ऋषभदेव के साथ चार हजार राजा बिना सोचे समझे ही दीक्षित हो गये। दोनों ही बातों से हमें यह सीखने को मिला कि काललब्धि आये बिना, पर्यायगत योग्यता के परिपाक के बिना, मात्र निमित्तों से वैराग्य नहीं होता और देखादेखी दीक्षा लेने का भी कोई अच्छा परिणाम नहीं निकलता। अतः हमें अपने परिणामों के परिपाक का प्रयत्न करना चाहिए और जबतक परिणामों का परिपाक पूरी तरह न हो जावे, तबतक देखा देखी दीक्षा नहीं लेनी चाहिए।

अब आहारदान की चर्चा करते हैं। आज दीक्षाकल्याणक का दिन है। दीक्षाकल्याणक का दिन तबतक चलेगा, जबतक कि केवलज्ञान नहीं हो जाता। केवलज्ञान का कार्यक्रम तो कल दोपहर बाद होगा। अतः दीक्षाकल्याणक एक प्रकार से कल दोपहर तक चलेगा।

आहारदान का प्रसंग भी कल प्रातः ही दिखाया जायगा। केवली भगवान तो कवलाहार करते नहीं, अतः आहार का प्रसंग केवलज्ञानकल्याणक में कैसे शामिल किया जा सकता है ? वैसे कल के पूरे दिन को केवलज्ञानकल्याणक के दिन के नाम से ही अभिहित करते हैं। कार्यक्रम में भी इसीप्रकार छापा जाता है।

पर यह विभाजन स्थूल विभाजन है, सूक्ष्मता से विचार करें तो जबतक केवलज्ञान संबंधी कार्यक्रम आरंभ नहीं होता, तबतक दीक्षाकल्याणक का समय ही समझना चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि आप पत्रिका में भी कल के

आधे दिन को दीक्षाकल्याणक और आधे दिन को ज्ञानकल्याणक के रूप में छापें, वहाँ तो जैसा छपता है, वैसा ही छपने दें, पर अपने ज्ञान में तो यह निर्णय अवश्य कर ले कि जबतक आहार का प्रसंग चल रहा है, तबतक दीक्षाकल्याणक का ही समय जानना, अन्यथा केवलज्ञानी को कवलाहार का प्रसंग आयेगा, जो न तो संभव ही है और न युक्तिसंगत ही।

छह माह के उपवास के उपरान्त जब मुनिराज ऋषभदेव आहार के लिए निकले तो उस समय किसी को भी मुनिराजों को आहार देने की विधि ही ज्ञात न थी। लोग भोले-भाले सरल हृदय थे। जब उन्होंने देखा कि हमारे महाराजाधिराज ऋषभदेव आज विपन्नावस्था में हैं, न तो उनके पास वस्त्र है, न कोई सवारी; उनके पैरों में जूते तक नहीं हैं। अतः कोई तो उन्हें वस्त्र देने की कोशिश करने लगा, कोई सवारी के लिए हाथी-घोड़े भेंट में देने लगा और कोई जूते-चप्पल भेंट करने लगा। बात तो यहाँ तक पहुँची कि कुछ लोग उन्हें कन्या प्रदान करने लगे, जिससे ऋषभदेव की उजड़ी गृहस्थी बस सके। आहार के बारे में या तो कोई सोचता ही नहीं था। यदि सोचता भी तो उन्हें आहारदान की विधि ज्ञात न होने से ऋषभदेव आहार लेते ही नहीं। ऋषभदेव लगभग प्रतिदिन आहार के लिए निकलते, पर 7 माह 9 दिन तक ऐसा ही चलता रहा। 6 माह का उपवास और 7 माह 9 दिन तक आहार का न मिलना इसप्रकार 1 वर्ष 1 माह और 9 दिन तक ऋषभदेव निराहार ही रहे।

देखो, विधि की विडम्बना, जो स्वयं तीर्थंकर हो, जिसके जन्मकल्याणक में इन्द्रों ने अतिशय सम्पन्न महोत्सव मनाया हो, जिसके गर्भ में आने के पहिले ही देवियां माता की सेवा करने आ गई हों, जिसने सम्पूर्ण जगत को कर्मभूमि के आरंभ में सबप्रकार शिक्षित किया हो; उसे दीक्षा लेने के बाद आहार का भी योग न मिला। सातिशय पुण्य के धनी और धर्मात्मा भावलिंगी सच्चे सन्त होने पर भी उस समय उनके पल्ले में इतना भी पुण्य नहीं था कि विधिपूर्वक दो रोटियाँ ही उपलब्ध हो जाती।

पुण्य की कमी थी, ऐसी कोई बात नहीं थी। सत्ता में तो तीर्थंकर प्रकृति पड़ी थी और निरन्तर बंध भी रही थी, पर सत्ता में पड़ा कर्म कार्यकारी नहीं होता। जबतक कर्म उदय में न आवे, तबतक वह कार्य की उत्पत्ति में निमित्त भी नहीं होता और तीर्थंकर प्रकृति का उदय तेरहवें गुणस्थान में होता है, अतः उसके पहले वह किसी कार्य में निमित्त भी नहीं हो सकती।

अन्य प्रकार के पुण्य की भी कोई कमी नहीं थी, अन्यथा लोग उन्हें अनेक प्रकार की वस्तुयें क्यों भेंट करने को उत्सुक होते, पर निरन्तराय आहार की उपलब्धि का न तो पुण्योदय ही था और न उस समय की पर्याय की योग्यता ही ऐसी थी। पाँचों ही समवाय आहार नहीं मिलने के ही थे।

13 माह 9 दिन बाद हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस को जातिस्मरण हुआ, जिसमें उन्हें मुनियों को आहार देने की विधि का स्मरण हो आया। जब ऋषभदेव का जीव राजा वज्रजंघ था और राजा श्रेयांस का जीव वज्रजंघ की पत्नी श्रीमती था। उस समय उन दोनों ने मिलकर अपने ही युगल पुत्रों को, जो मुनिराज हो गये थे, आहार दिया था। वह दृश्य उनकी स्मृति पटल पर आ गया। इससे उन्हें मुनिराजों को आहार देने की विधि पूर्णतः स्पष्ट हो गई और उन्होंने मुनिराज ऋषभदेव को इक्षुरस का आहार दिया।

जिस दिन मुनिराज ऋषभदेव को सर्वप्रथम आहार मिला, वह दिन अक्षय तृतीया का शुभ दिन था। इसीकारण अक्षय तृतीया का महापर्व चल पड़ा। यही कारण है कि यदि ऋषभदेव को धर्मतीर्थ का प्रवर्तक माना जाता है तो राजा श्रेयांस को दानतीर्थ का प्रवर्तक।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि राजा श्रेयांस को जातिस्मरण 7 माह पूर्व क्यों नहीं हो गया? यदि 7 माह पूर्व उन्हें जातिस्मरण हो जाता तो ऋषभदेव को इतने दिनों व्यर्थ ही निराहार न रहना पड़ता।

पर, भाई साहब क्या तुम इस बात को नहीं जानते कि **समय के पहले और भाग्य से अधिक कभी किसी को कुछ नहीं मिलता।** जब ऋषभदेव की आहार प्राप्ति की उपादानगत योग्यता पक गई तो आहार देने वालों को भी जातिस्मरण हो गया। इससे तो यही सिद्ध होता है कि जब अपनी अन्तर से तैयारी हो तो निमित्त तो हाजिर ही रहता है, पर जब हमारी पात्रता ही न पके तो निमित्त भी नहीं मिलते। उपादानगत योग्यता और निमित्तों का सहज ऐसा ही संयोग है। अतः निमित्तों को दोष देना ठीक नहीं है, अपनी पात्रता का विचार करना ही कल्याणकारी है।

मुनिराजों के 28 मूलगुणों में दो मूलगुण आहार से भी संबंधित हैं-

(1) दिन में एक बार अल्प आहार लेना और

(2) खड़े-खड़े हाथ में आहार लेना।

जैसा कि छहढाला की निम्नांकित पंक्ति में कहा गया है-

"इकबार दिन में लें आहार खड़े अलप निजपान में।"

मुनिराज दिन में एक बार ही आहार लेते हैं, वह भी भरपेट नहीं, अल्पाहार ही लेते हैं और वह भी खड़े-खड़े अपने हाथ में ही।

ऐसा क्यों है, खड़े-खड़े ही क्यों ? बैठकर शान्ति से दो रोटियाँ खा लेने में क्या हानि है ? हाथ में ही क्यों, थाली में जीमने में भी क्या दिक्कत है ?

इसीप्रकार एक बार ही क्यों, बार-बार क्यों नहीं, अल्पाहार ही क्यों, भरपेट क्यों नहीं ? यह भी कुछ प्रश्न हैं, जो लोगों के हृदय में उत्पन्न होते हैं।

वनवासी मुनिराज नगरवासी गृहस्थों की संगति से जितने अधिक बचे रहेंगे, उतनी ही अधिक आत्मसाधना कर सकेंगे। इसीकारण तो वे नगरवास का त्याग करते हैं, वन में रहते हैं, मनुष्यों की संगति की अपेक्षा वनवासी पशु-पक्षियों की संगति उन्हें कम खतरनाक लगती है, क्योंकि पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े भले ही थोड़ी-बहुत शारीरिक पीड़ा पहुँचावें, पर वे व्यर्थ की चर्चाएं कर उपयोग को खराब नहीं करते। गृहस्थ मनुष्य तो व्यर्थ की लौकिक चर्चाओं से उनके उपयोग को भ्रष्ट करते हैं। जिस राग-द्वेष से बचने के लिए वे साधु हुए हैं, उन्हें ये गृहस्थ येनकेनप्रकारेण उन्हीं राग-द्वेषों में उलझा देते हैं। तीर्थों के उद्धार के नाम पर उनसे चन्दा की अपील करावेंगे, पंच-पंचायतों में उलझावेंगे, उनके सहारे अपनी राजनीति चलायेंगे, उन्हें भी किसी न किसी रूप में अपनी राजनीति मे समायोजित कर लेंगे।

इन गृहस्थों से बचने के लिए ही वे वनवासी होते हैं; पर आहार एक ऐसी आवश्यकता है कि जिसके कारण उन्हें इन गृहस्थों के सम्पर्क में आना ही पड़ता है। अतः सावधानी के लिए उक्त नियम रखे गये हैं। एक तो यह कि जब वे आहार के विकल्प से नगर में आते हैं तो मौन लेकर आते हैं, दूसरे खड़े-खड़े ही आहार करते हैं; क्योंकि गृहस्थों के घर में बैठना उचित प्रतीत नहीं होता। गृहस्थों का सम्पर्क तो जितना कम हो, उतना ही अच्छा है। दूसरों से कटने का मौन सबसे सशक्त साधन है; वे उसे ही अपनाते हैं।

दूसरे, उन्हें इतनी फुर्सत कहाँ है कि बैठकर शान्ति से खावें। उन्हें तो शुद्ध सात्विक आहार से अपने पेट का खड्डा भरना है, वह भी आधा-अधूरा। शान्ति से बैठकर धीरे-धीरे भरपेट खाने में समय बर्बाद करना इष्ट नहीं है। जब हम भी किसी काम की जल्दी में होते हैं तो कहाँ ध्यान रहता है स्वाद का ? उन्हें भी गृहस्थ के घर से भागने की जल्दी है, सामायिक में बैठने की जल्दी है; आत्मसाधना करने की जल्दी है। बच्चों का

मन भी जब खेल में होता है तो वे भी कहाँ शान्ति से बैठकर खाते हैं। माँ के अति अनुरोध पर खड़े-खड़े थोड़ा-बहुत खाकर खेलने भागते हैं। मन तो खेल में है, उन्हें खाने की फुर्सत नहीं। उसीप्रकार हमारे मुनिराजों का मन तो आत्मध्यान में है, उन्हें शान्ति से बैठकर खाने की कहां फुर्सत है ?

इसीप्रकार भरपेट खाने के बाद आलस का आना स्वाभाविक ही है। अतः जिन मुनिराजों को आहार से लौटने पर 6 घड़ी तक सामायिक करनी है, उन्हें प्रमाद बढ़ाने वाला भरपेट भोजन कैसे सुहा सकता है ? जब छात्रों की परीक्षाएं होती हैं, इसकारण उन्हें देर रात तक पढ़ना होता है तो वे भी शाम का भोजन अल्प ही लेते हैं। इसकारण मुनिराजों का आहार अल्पाहार ही होता है। वे तो मात्र जीने के लिए शुद्ध-सात्विक,अल्प आहार लेते हैं। वे आहार के लिए नहीं जीते, जीने के लिए आहार लेते हैं। भरपेट आहार कर लेने पर पानी भी पूरा नहीं पिया जायगा और बाद में प्यास लगेगी। वे तो भोजन के समय ही पानी लेते हैं, बाद में तो पानी भी नहीं पीते। पानी की कमी के कारण भोजन भी ठीक से नहीं पचेगा और कब्ज आदि अनेक रोग आ घेरेंगे। ऐसी स्थिति में आत्मसाधना में भी बाधा पड़ेगी। अतः वे अल्पाहार ही लेते हैं।

हाथ में आहार लेने के पीछे भी रहस्य है। यदि थाली में आहार लेवें तो फिर बैठकर ही लेना होगा, खड़े-खड़े आहार थाली में संभव नहीं है। दूसरे थाली में उनकी इच्छा के विरुद्ध भी अधिक या अनपेक्षित सामग्री रखी जा सकती है। जूठा छोड़ना उचित न होने से खाने में अधिक आ सकता है। हाथ में यह संभव नहीं है। यदि किसी ने कदाचित् रख भी दिया तो कितना रखेगा? बस एक ग्रास ही न ? पर थाली में तो चाहे जितना रखा जा सकता है।

भोजन में जो स्वाधीनता हाथ में खाने में है, वह स्वाधीनता थाली में खाने में नहीं रहती।

एक बात यह भी है कि उसमें भक्तगण अपने वैभव को प्रदर्शित किए बिना नहीं रहते। यदि महाराज थाली में खाने लगें तो कोई चाँदी की थाली में खिलायेगा, कोई सोने की थाली में।

दिगम्बर वीतरागी भगवान को भी हम सोनें-चाँदी, हीरे-जवाहरात से सजाने लगे हैं। यदि दिगम्बर लोग उनके तन पर कोई गहना-कपड़ा नहीं सजा सकते तो वे उनके परिकर को सजावेंगे। छत्र-चमरों के माध्यम से

उन्हें जगमगा देंगे। जिन्हें तुच्छ जानकर वे त्याग कर आये हैं, उन्हीं को उनके चारों ओर सजावेंगे।

रागियों की प्रवृत्तियाँ रागमय ही होती हैं, वैरागी और वीतरागी मुनिराजों को वे वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ कैसे सुहा सकती हैं ? यह रहस्य है उनके करपात्री होने का।

यह तो आप जानते ही हैं कि मुनिराज जब आहार लेकर वापिस लौटते हैं तो उन्हें आचार्यश्री के समक्ष उपस्थित होकर चर्या के काल में जो भी घटित हुआ हो, वह सब सुनाना पड़ता है। यदि चर्या के काल में मन-वचन-काय की क्रिया में कुछ दोष लग गया हो, तो वह सब भी बताकर प्रायश्चित लेना होता है।

भोजन की चर्या के बाद ही यह सब क्यों ?

इसलिए कि आहार के काल में गृहस्थों के समागम की अनिवार्यता है और उनके समागम में दोष होने की संभावना भी अधिक रहती है। इसी बात से अनुमान लगाया जा सकता है कि गृहस्थों का समागम साधुओं के लिए कितना खतरनाक है ? इसी की विशुद्धि के लिए यह नियम रखा गया है कि आहारचर्या के बाद साधु आचार्यश्री के पास जाकर सब-कुछ निवेदन करें और उनके आदेशानुसार प्रायश्चित करें।

इस बात को ध्यान में रखकर वीतरागी साधुओं को गृहस्थों के समागम से बचने का पूरा-पूरा यत्न करना चाहिए। गृहस्थों का भी यह कर्तव्य है कि वे भी मुनिराजों को जगत के प्रपचों में न उलझावें। यदि उन्हें उनका सत्समागम मिल जाता है तो उनसे वीतरागी चर्चा ही करना चाहिए, तत्वज्ञान समझने का ही प्रयास करना चाहिए।

मुनिराज उद्दिष्ट आहार के त्यागी होते हैं। उनकी वृत्ति को मधुकारी वृत्ति कहा गया है। जिसप्रकार भौरा या मधुमक्खी जिन फूलों से मधु ग्रहण करती है, रस ग्रहण करती हैं; वह उसे रंचमात्र भी क्षति न हो जावे इस बात का ध्यान रखती हैं। वे पुष्प का रस लेते समय इतना ध्यान रखते हैं कि उस पर अपना वजन भी नहीं डालते, भिनभिनाते रहते है, उड़ते रहते हैं और अत्यन्त बारीक अपने डंक से इसप्रकार रस चूसते है कि पुष्प का आकार भी नहीं बिगड़ता, वह एकदम जैसा का तैसा बना रहता है। उसीप्रकार मुनिराज भी, जिसके यहाँ आहार लेते है, उसे किसी भी प्रकार की पीड़ा पहुँचे, ऐसा नहीं होने देते। अतः उनके उद्देश्य से बनाये गये आहार को

ग्रहण नहीं करते। गृहस्थ ने जो आहार स्वयं के लिए बनाया, उसमें से ही वह मुनिराज के लिए देवे, वही ग्रहण करते हैं। मुनिराजों के उद्‌देश्य से बनाये गये आहार में जो आरंभी हिंसा होती है, उसका भागी मुनिराज को बनना होगा; इसकारण मुनिराज नहीं चाहते कि कोई उनके उद्‌देश्य से आहार बनावे। यही कारण है कि वे उद्दिष्ट आहार के त्यागी होते हैं।

दीक्षाकल्याणक के दिन दिगम्बर मुनिराजों की समस्त चर्या पर ऊहापोह होना चाहिए, मुनिराजों के अन्तर्बाह्य सच्चे स्वरूप का प्रतिपादन निष्पक्षभाव से शास्त्रानुसार होना चाहिए; जिससे जनता मुनिधर्म के सच्चे स्वरूप को समझ सके और मुनिराजों के प्रति उसके हृदय में भक्तिभाव भी जागृत हो।

मुनिधर्म इतना महान है, इतना सहज है, इतना दुर्धर है कि उसका सही स्वरूप जनता के सामने आवे तो जनता अभिभूत हुए बिना न रहे। मुनिधर्म का स्वरूप निरूपण करते समय हमारे ध्यान में कोई व्यक्ति विशेष नहीं रहना चाहिए; अपितु जिनवाणी रहनी चाहिए, भगवान ऋषभदेव की मुनिदशा रहनी चाहिए।

व्यक्तिविशेष की चर्चा होने पर वातावरण विक्षुब्ध हो जाता है और फिर मुनिधर्म का स्वरूप स्पष्ट करना भी संभव नहीं रहता है। अतः टीका-टिप्पणी और आलोचना-प्रत्यालोचना से पूरी तरह बचना चाहिए। किसी भी प्रकार के वाद-विवाद में नहीं उलझना ही आत्मार्थ है, आत्मार्थिता की सच्ची निशानी है।

मुनिराजों को तो शास्त्रों में चलते-फिरते सिद्ध जैसा ही कहा है। मैंने स्वयं देव-शास्त्र-गुरु पूजन की जयमाला में लिखा है:-

"चलते-फिरते सिद्धों से गुरु चरणों में शीश झुकाते हैं।
हम चले आपके कदमों पर नित यही भावना भाते हैं।"

आज दीक्षाकल्याणक के दिन हम सब मुनिदशा का स्वरुप समझें, उसके सन्दर्भ में विचार करें, चिन्तन करें, मन्थन करें; क्योंकि एक न एक दिन हम सबको भी मुनिराज बनना है न ? अरे भाई मुनिराज न बनेंगे तो मोक्ष कैसे जावेंगे ? मुनिधर्म धारण किए बिना तो आज तक किसी को मोक्ष हुआ नहीं, तो हमें व आपको कैसे होगा ?

'वो दिन कब पाऊं, जब घर को छोड़ बन जाऊं।' - यह भावना भाते हुए दीक्षाकल्याणक की चर्चा समाप्त करता हूँ। कल केवलज्ञानकल्याणक की चर्चा होगी।

सातवाँ दिन

केवलज्ञानकल्याणक

आज केवलज्ञानकल्याणक का दिन है। पंचकल्याणक महोत्सव का सातवाँ दिन और पंचकल्याणक का चौथा दिन।

आज मुनिराज ऋषभदेव को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। केवलज्ञान माने सर्वज्ञता, सम्पूर्ण ज्ञान, परिपूर्ण ज्ञान। सम्पूर्ण जगत में लोकालोक में जितने भी पदार्थ हैं, उन सभी को उनके सम्पूर्ण गुण और भूत, भविष्य एवं वर्तमान की समस्त पर्यायों सहित एक समय में बिना किसी की सहायता के, इन्द्रियों के बिना, सीधे आत्मा से प्रत्यक्ष जानना ही केवलज्ञान है।

केवलज्ञान सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती सभी पदार्थों को हाथ पर रखे हुये आँवले के समान अत्यन्त स्पष्टरूप से जानता है।

सूक्ष्म माने दृष्टि से दूर, अन्तरित माने काल से दूर और दूरवर्ती माने क्षेत्र से दूर। परमाणु आदिक सूक्ष्म हैं, रामादिक काल से दूर होने से अन्तरित हैं और सुमेरु पर्वत आदि क्षेत्र से दूर होने से दूरवर्ती कहे जाते हैं। ये सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती सभी पदार्थ केवलज्ञानदर्पण में समानरूप से प्रतिभासित होते हैं। तात्पर्य यह है कि केवलीभगवान पदार्थों को देखने-जानने के लिए उनके पास नहीं जाते और पदार्थ भी उनके पास नहीं आते तथापि सभी पदार्थ बिना यत्न के ही प्रतिसमय उनके ज्ञानदर्पण में झलकते रहते हैं।

जिसप्रकार दर्पण भी पदार्थों के पास नहीं जाता और पदार्थ भी दर्पण के पास नहीं आते, फिर भी दर्पण में पदार्थ झलकते हैं; उसीप्रकार केवलज्ञान में लोकालोक के सभी पदार्थ झलकते हैं। दर्पण में तो यह आवश्यक है कि जो पदार्थ उसके सामने होंगे, वे ही झलकेंगे; पर केवलज्ञान में ऐसी भी कोई आवश्यकता नहीं है। कोई पदार्थ कहीं भी क्यों न हो, वह अपनी भूत-भविष्य में होनेवाली समस्त पर्यायों सहित केवलज्ञान में झलकता है। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान में क्षेत्र और काल बाधक नहीं होते, किसी भी प्रकार की

पराधीनता नहीं होती, लोकालोक का ज्ञान प्रतिसमय सहजभाव से होता रहता है और केवलज्ञानी अपने में मग्न रहते हुए भी तो लोकालोक के सभी पदार्थों को सहजभाव से जानते-देखते रहते हैं। पदार्थों के परिणमन से न वे प्रभावित होते हैं और न उनके जानने-देखने से पदार्थों का परिणमन ही प्रभावित होता है, सहज ही निर्लिप्त भाव से ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध बना रहता है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यदि केवलीभगवान भविष्य की पर्यायों को भी जानते हैं तो फिर तो सम्पूर्ण भविष्य भी निश्चित होगा; क्योंकि यदि भविष्य निश्चित न हो तो उसे जानेंगे कैसे और उसके जानने का अर्थ भी क्या है ?

हाँ भाई, बात तो ऐसी ही है कि प्रत्येक पदार्थ का किस समय कैसा, क्या परिणमन होगा -- यह सब सुनिश्चित ही है और केवली भगवान उसे अत्यन्त स्पष्टरूप से जानते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो फिर भगवान ऋषभदेव ने यह कैसे बता दिया था कि यह मारीचि एक कोड़ाकोड़ी सागर के बाद इसी भरतक्षेत्र में चौबीसवाँ तीर्थंकर होगा।

एक कोड़ाकोड़ी सागर का काल बहुत लम्बा होता है। मारीचि और महावीर के भवों के बीच में असंख्य भव थे, वे सभी भगवान आदिनाथ के ज्ञान में झलक रहे थे, तभी तो उन्होंने यह सब बताया था।

भगवान नेमिनाथ ने भी बारह वर्ष पहले ही यह बता दिया था कि यह द्वारका नगरी बारह वर्ष बाद जल जायेगी और लाख प्रयत्न करने पर भी उसे जलने से रोका नहीं जा सका, आखिर वह जली ही।

इसीप्रकार की सुनिश्चित भविष्य संबंधी लाखों घोषणायें जिनवाणी में भरी पड़ी हैं, जो इस बात को सुनिश्चित करतीं है कि भविष्य एकदम सुनिश्चित है, अघटित कुछ भी घटित नहीं होता। अनन्त केवलीभगवान सभी के उस सुनिश्चित भविष्य को जानते हैं।

इस सन्दर्भ में विशेष जानकारी करना हो तो लेखक की अन्य कृति "क्रमबद्धपर्याय"का अध्ययन करना चाहिए, उसमें इस विषय का लगभग 150 पृष्ठों में अत्यन्त विशद स्पष्टीकरण है। यह विषय बहुत दिलचस्प है, क्रान्तिकारी है, जीवन बदल देनेवाला है; अतः सभी को चाहिए कि वह "क्रमबद्धपर्याय" को एक बार नहीं, अनेक बार पढ़ें और उसमें प्रतिपादित विषयवस्तु पर गहराई से मंथन करें, विचार करें, चिन्तन करें; आवश्यक

प्रतीत हो तो विशेषज्ञों से भी उक्त प्रकरण पर विचार विमर्श करें। जबतक किसी निर्णय पर न पहुंच जावे, विषय को छोड़े नहीं, उसकी तह तक पहुंचने का पूरा-पूरा पुरुषार्थ करें।

केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है; क्योंकि सर्वज्ञता धर्म का मूल है। सच्चे देव के स्वरूप में सर्वज्ञता शामिल है। जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हो, वहीं सच्चा देव है--ऐसा रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं। सर्वज्ञता को समझे बिना सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को भी समझना संभव नहीं है।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को समझे बिना तो व्यवहार सम्यग्दर्शन भी होना संभव नहीं हैं। अतः इस विषय पर विस्तार से चर्चा अपेक्षित है, पर अभी यहाँ इतना समय नहीं है; क्योंकि अभी केवलज्ञानकल्याणक संबंधी और भी अनेक विषय स्पष्ट करने हैं।

ऋषभदेव मुनि अवस्था में एक हजार वर्ष तक रहे। दीक्षा लेने के एक हजार वर्ष बाद उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। इस पंचकल्याणक में आज केवलज्ञानकल्याणक का दिन है। आज केवलज्ञानकल्याणक के दिन ही वे भगवान बने। इसके पूर्व वे मुनिराज ऋषभदेव थे। उसके भी पहले वे राजा ऋषभदेव थे। उसके पहले राजकुमार ऋषभ थे।

केवलज्ञान होने के बाद उनकी दिव्यध्वनि खिरी, जिससे मुक्ति के मार्ग का उद्घाटन हुआ। केवलज्ञानकल्याणक के सन्दर्भ में भी निम्नांकित 3 बिन्दुओं पर विचार किया जाना आवश्यक है।

(1) ऋषभदेव की धर्मसभा समोसरण की रचना

(2) भगवान ऋषभदेव की दिव्यध्वनि

(3) दिव्यध्वनि में समागत वस्तु का स्वरूप

तीर्थंकर की धर्मसभा को समोसरण कहते हैं। उसकी रचना सौधर्म इन्द्र के माध्यम से होती है। वह धर्मसभा हमारी धर्मसभा जैसी नहीं होती, अपितु गोलाकार होती है। बीच में भगवान विराजमान होते हैं और चारों ओर श्रोताजन बैठते हैं। उसमें चारों ओर मिलाकर 12 सभायें होती हैं, जिनमें मुनिराज, आर्यिका, श्रावक एवं श्राविकाओं के साथ-साथ देव-देवांगनाएं तथा पशु-पक्षी भी श्रोताओं के रूप में बैठते हैं।

यद्यपि भगवान बीच में विराजमान होते हैं, तथापि चारों ओर बैठे लोगों में से किसी की ओर उनकी पीठ नहीं होती; सभी को ऐसा लगता है कि मानों भगवान का मुख उनकी ही ओर है। उनका मुख चारों ओर होने से उन्हें चतुर्मुख भी कहा जाता है। उनके चार मुख नहीं होते, पर कुछ ऐसा अतिशय होता है कि उनका मुख चारों ओर बैठे लोगों को दिखाई देता है। इसप्रकार के अनेक अतिशय उनके समोसरण में देखने में आते हैं।

उक्त बारह सभाओं के अतिरिक्त समोसरण में बाग-बगीचे, नाट्यशालाएं-नृत्यशालाएं आदि अनेक प्रकार की सुन्दरतम रचनाएं होती हैं। यह जो आप समोसरण का दृश्य देख रहे हैं। यह उसका ही प्रतिरूप है।

भगवान की दिव्यध्वनि ओंकार स्वरूप एकाक्षरी होती है, जिसे अनक्षरी या निरक्षरी भी कहते हैं। यद्यपि उनकी ध्वनि निरक्षरी होती है, तथापि श्रोताओं के कान में पहुँचते-पहुँचते वह उनकी भाषा में परिणत हो जाती है। इसप्रकार उनके उपदेश को सब अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं। उनकी दिव्यध्वनि 18 महाभाषाओं और 700 लघु भाषाओं में परिणत हो जाती है।

देवशास्त्रगुरु पूजन की जयमाला में आता है न कि-

"दशअष्ट महाभाषा समेत, लघुभाषा सात शतक सुचेत।"

भगवान ऋषभदेव वर्तमान चौबीसी में सबसे पहले तीर्थंकर थे, इसकारण उन्हें आदिनाथ भी कहते हैं। भगवान आदिनाथ के समोसरण में बीस हजार सीढ़ियाँ थी और वह बारह योजन के विस्तार में बना था।

समोसरण की रचना के सन्दर्भ में लोगों के चित्त में एक प्रश्न बार-बार उभरता है कि वीतरागी भगवान की धर्मसभा में बाग-बगीचे क्यों, नाट्यशालाएं-नृत्यशालाएं क्यों ? राग-रंग के स्थान क्यों, नाच-गाने क्यों ? अनेक आकर्षक लुभावनी रचनाएं क्यों ? इसीप्रकार बीस हजार सीढ़ियाँ क्यों ? उनकी धर्मसभा तो समतल भूमि पर होना चाहिए; जिसमें रोगी, बाल, वृद्ध सभी आसानी से पहुँच सकें।

क्या आप जानते हैं कि बीस हजार सीढ़ियों का मतलब क्या होता है ? इसका अर्थ यह हुआ कि समोसरण में जाना दो बार गिरनार की यात्रा करने के बराबर हो गया। यात्रा के लिए भी लोग डोलियों में जाते हैं। भगवान की वाणी सुनने के लिए जाने के लिए इतनी कष्टप्रद यात्रा क्यों ? धर्मश्रवण के लिए तो सरलतम सहज व्यवस्था होनी चाहिए।

इन बातों पर गंभीरता से विचार करने पर इस बात की ओर विशेष ध्यान जाता है कि इन्द्र जैसे समझदार व्यवस्थापक ने कुछ सोच समझकर ही यह व्यवस्था की होगी।

मूलत: बात यह है कि जो जितना बड़ा वक्ता होता है, उसकी सभा में उतने ही अधिक श्रोता पहुँचते हैं। यदि वक्ता पुण्यशाली भी हुआ तो जनता उमड़ पड़ती है। जहाँ तीर्थंकर जैसा पुण्यशाली प्रवक्ता हो, वहाँ तो कहना ही क्या है ?

ऐसी स्थिति में भीड़ को नियंत्रित करना एक समस्या तो होती ही है। सामान्य व्यवस्थापक भीड़ को नियंत्रित करने के लिए प्रवेशपत्रों की व्यवस्था करते हैं, बिना प्रवेशपत्र के लोगों को रोकने के लिए शक्ति का प्रयोग करते हैं। कुछ बनियाबुद्धि व्यवस्थापक टिकट लगा देते हैं, जिससे भीड़ भी कम हो जाती है और आर्थिक लाभ भी हो जाता है। पर इन्द्र जैसे निर्लोभी, बुद्धिमान, विवेकी और समर्थ व्यवस्थापक के लिए यह सब संभव न था। वह तो यह चाहता था कि चाहे निर्धन हो, या धनिक, चाहे मनुष्य हो या पशु, पर जो तीव्र रुचि वाले हैं, निकटभव्य हैं, विषय-कषाय से विरक्त हैं और अप्रमादी है, ऐसे लोग ही धर्मसभाओं में पहुँचना चाहिए, जिससे भगवान की वाणी का पूरा-पूरा सदुपयोग हो सके।

जब इन्द्र ने इतनी बड़ी धर्मसभा की व्यवस्था की तो वहाँ बैठने के स्थान की कोई समस्या नहीं थी, क्योंकि वे चाहते तो नाट्यशालाओं और बाग-बगीचों वाले स्थान को भी सभाभवन के रूप में व्यवस्थित कर सकते थे। पर मूल बात यह थी कि विषय-कषाय की रुचि वाले,दीर्घसंसारी,प्रमादी लोग वहाँ पहुँच कर स्वयं तो भगवान की वाणी मन लगाकर सुनते ही नहीं, दूसरों को भी न सुनने देते। अत: उसने विषय-कषाय की रुचिवाले और प्रमादी लोगों को रोकने के लिए ही यह व्यवस्था की होगी।

प्रमादी लोग तो बीसहजार सीढ़ियों का नाम सुनकर ही हिम्मत हार देते होंगे, पर कुछ हट्टे-कट्टे लोग ऐसे भी होते हैं कि जो कुतूहल वश बीसहजार सीढ़ियाँ भी सहज ही पार कर लेते हैं। विषय-कषाय की रुचि वाले ऐसे हट्टे-कट्टे लोगों को रोकने के लिए ही मानों बाग-बगीचों की रचना की जाती है। ऐसा होता भी है कि हजारों लोग प्रतिदिन भगवान की वाणी सुनने के संकल्प के साथ घर से निकलते है और मार्ग में आने वाले बाग-बगीचों में ही रम जाते हैं, नृत्य देखने में लगे रहते है और धर्मसभा तक

पहुँच भी नहीं पाते।

धर्मसभा तक पहुँचने वाले तो वे ही होते हैं कि न जिन्हें बाग-बगीचों में रस है और न नाच-गाने में। वे तो एक मात्र भगवान की वीतराग वाणी के रसिया होते हैं, जो यहाँ-वहाँ निगाह डाले बिना सीधे धर्मसभा की ओर उन्मुख रहते हैं और यथासमय पहुँच कर उनकी वाणी का पूरा-पूरा लाभ लेते हैं।

ऐसे सुयोग्य-सुपात्र श्रोताओं के सद्भाव का ही यह सुपरिणाम निकलता है कि जब भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है तो वह निष्फल नहीं जाती, उसके प्रभाव से सैकड़ों लोग मुनिदीक्षा ग्रहण करते हैं; हजारों अणुव्रत लेते हैं और लाखों सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करते हैं। इसप्रकार के अनेक कथन शास्त्रों में आते हैं कि अमुक तीर्थंकर की दिव्यध्वनि सुनकर इतने लोगों ने मुनिदीक्षा ली, इतने लोगों ने अणुव्रत धारण किए और इतने लोगों ने सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की।

अतः यह सहजसिद्ध ही है कि समोसरण की रचना का जो स्वरूप है, वह सुसंगत ही है।

उक्त संदर्भ में एक बात और भी विचारणीय है। जब कोई अध्यापक किसी कक्षा में पढाने के लिए जाता है, तो उसके सामने जो छात्र होते हैं, उनका एक स्तर होता है। जैसे कोई अध्यापक दशवीं कक्षा को पढ़ाता है तो उसके सामने जो छात्र होते हैं, वे सभी नौवीं कक्षा पास होते हैं और कोई भी छात्र दशवीं कक्षा पास नहीं होता है। सभी छात्र उस भाषा को समझते हैं कि जिस भाषा में वह पढ़ाता है। अतः उसे पढ़ाने में भाषा और स्तर की कोई समस्या नहीं होती, किन्तु जब कोई वक्ता किसी सभा को सम्बोधित करता है तो उसके सामने जो श्रोता होते हैं, वे न तो सभी एक स्तर के होते हैं और न एक भाषा-भाषी ही होते हैं। अतः उसे भाषा और स्तर की समस्या का सामना करना होता है।

वक्ता जितना बड़ा और जितना प्रभावशाली होगा, उसे सुनने वाले श्रोताओं के स्तर में उतना ही अधिक अन्तर होगा, भाषा संबंधी जटिलता भी उतनी ही अधिक होगी। जब देश का प्रधानमंत्री किसी सभा को संबोधित करता है या दूरदर्शन पर भाषण देता है तो उसके सामने जहाँ एक ओर अनेक भाषा-भाषी लोग बैठे होते हैं, वहीं विश्व के बड़े-बड़े नेता, बड़े-बड़े प्रशासनिक अधिकारी, बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ भी उसे सुनते हैं और बिना

पढ़ी-लिखी ग्रामीण जनता भी सुनती है, जिसमें आदिवासी एवं वे महिलाएं भी होती हैं कि जिनको काला अक्षर भैंस बराबर होता है, ऐसी स्थिति में उसे अपनी रीति-नीति स्पष्ट करनी होती है।

जब तीर्थंकर जैसा प्रवक्ता होता है तो उसके सामने और भी अधिक विषमता होती है। जहाँ एक ओर गणधरदेव जैसे द्वादशांग के पाठी चार ज्ञान के धारी शुद्धोपयोगी सन्त होते हैं, द्वादशांग का पाठी सौधर्म इन्द्र जैसे देवगण होते हैं तो वहीं दूसरी ओर पशु-पक्षी भी उनकी धर्मसभा में देशना सुनने के लिए जातिगत वैर-विरोध छोड़कर शान्तभाव से बैठे होते हैं। अतः स्तर और भाषा की जटिलतम समस्या तीर्थंकर भगवान की धर्मसभा में भी होती है, जिसका समाधान उनका सातिशय पुण्य अनेक अतिशयों के माध्यम से करता है।

उनकी ओंकार ध्वनि (दिव्यध्वनि) श्रोताओं के कान में पहुँचते-पहुँचते उनकी भाषा में परिणत हो जाती है और उनके स्तर के अनुरूप भगवान की वाणी उनकी समझ में भी आ जाती है। आज के वैज्ञानिक युग में इसप्रकार की व्यवस्था देश-विदेश की अनेक लोकसभाओं में हो गई है। अतः इन्द्र जैसे साधनसम्पन्न एवं वैज्ञानिक प्रज्ञा के धनी व्यक्ति के लिए इसप्रकार की सातिशय व्यवस्था असंभव नहीं लगती।

हँसने और रोने की भाषा भी एकाक्षरी ही होती है और उसे प्रत्येक भाषा-भाषी आसानी से समझ लेता है। कोई भी बालक माँ के पेट से किसी भाषा को सीखकर नहीं आता, पर वह अपनी ध्वनि के माध्यम से अपनी बात सब तक पहुँचाता ही है। जब नग्न दिगम्बर बालक की बात को समझने में भाषा की समस्या नहीं आती तो नग्न दिगम्बर वीतरागी परमात्मा की एकाक्षरी बात भी जन-जन तक सहज भाव से पहुँच जावे तो कौन सी आश्चर्य की बात है ?

इसप्रकार भगवान ऋषभदेव की धर्मसभा की रचना और उनकी दिव्यध्वनि की चर्चा संक्षेप में की, अब उनकी दिव्यध्वनि में समागत वस्तुस्वरूप पर विचार अपेक्षित है।

आचार्य पूज्यपाद ने "सर्वार्थसिद्धि" नामक ग्रन्थ में पंचकल्याणक दर्शन को सम्यग्दर्शन का निमित्त कहा है। इस सन्दर्भ में विचार करने की बात यह है कि पंचकल्याण का ऐसा कौनसा अंग है कि जो सम्यग्दर्शन का साक्षात् निमित्त बनता है?

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पूर्व अनिवार्य रूप से होने वाली पाँच लब्धियाँ कही है। उनमें एक देशनालब्धि भी है। तीर्थंकर भगवान की देशना ही सम्यग्दर्शन का उत्कृष्ट निमित्त है। अतः पंचकल्याणक का यह देशना वाला प्रकरण ही सम्यग्दर्शन का मूलभूत निमित्त है। इसी के कारण सम्पूर्ण पंचकल्याणक के दर्शन को सम्यग्दर्शन का निमित्त कहा जाता है।

समोसरण में भी तो जो बाग-बगीचे है, नृत्यशालाएं-नाट्यशालाऐं हैं, उनका दर्शन सम्यग्दर्शन का निमित्त नहीं बनता है; अपितु दिव्यध्वनि में आने वाला जो मूल तत्त्वोपदेश है, वही सम्यग्दर्शन का देशनालब्धि रूप निमित्त है।

रंगारंग के कार्यक्रम तो राग-रंग में ही निमित्त बनते है, वीतरागतारूप धर्म के निमित्त तो वीतरागता के पोषक कार्यक्रम ही हो सकते हैं। अतः सम्यग्दर्शन के निमित्तभूत इन महोत्सवों में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए कि इनमें अधिकतम कार्यक्रम वीतरागता के पोषक ही हो। तदर्थ शुद्धात्मा के स्वरूप के प्रतिपादक प्रवचनों का समायोजन अधिक से अधिक किया जाना चाहिए। अन्य कार्यक्रमों में भी वीतरागता की पोषक चर्चाओं का समायोजन सर्वाधिक होना चाहिए।

इसी बात को लक्ष्य में रखकर हमारे तत्त्वावधान में होने वाले पंचकल्याणकों में हम इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं। इन्द्र-इन्द्राणियों और राजा-रानियों के संवादों में भी इसतरह की विषय-वस्तु प्रस्तुत की जाती है, जो सीधी आत्मा को स्पर्श करने वाली हो, वैराग्योत्पादक हो और आत्मा के सम्यक् स्वरूप की प्रतिपादक हो।

इन महान धर्मोत्सवों को मनोरंजन एवं मानप्रतिष्ठा का साधन न बनाकर वीतरागी तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार का साधन बनाया जाना चाहिए। इसी में हम सब का भला है, समाज का भी भला है।

यद्यपि सम्पूर्ण द्वादशांग भगवान की वाणी है और उसमें जो भी प्रतिपादन किया गया है, वह सभी उपयोगी ही है, आवश्यक ही है; तथापि सम्पूर्ण जिनवाणी के आराधक पाठक तो श्रुतकेवली ही हुआ करते हैं। साधारणबुद्धि के धारक लोगों को तो उसमें से भी प्रयोजनभूत विषयवस्तु को अपने अध्ययन के लिए चुनना होता है, जो आत्मकल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक हो, अनिवार्य हो।

भगवान की दिव्यध्वनि भी उसी मूलवस्तु की मुख्यता से खिरती है। वह मूलवस्तु जीवादि तत्त्वार्थ है, उनमें भी निज भगवान आत्मा रूप जीवतत्त्व

प्रमुख है; क्योंकि सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र की एकतारूप मुक्ति का मार्ग निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही उपलब्ध होता है।

परमार्थदृष्टि से विचार करे तो निज भगवान आत्मा के अनुभव पूर्वक निज आत्मा को जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है, इसी निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होने का नाम सम्यग्दर्शन है और इसी निज भगवान आत्मा में जमने-रमने, समा जाने का नाम सम्यग्चारित्र है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की यह एकता ही साक्षात मुक्ति का मार्ग है, सुखी होने का सच्चा उपाय है। एक त्रिकाली ध्रुव ज्ञानानन्दस्वभावी, शुद्ध-बुद्ध, निरंजन निज भगवान आत्मा ही तीनों का एकमात्र आश्रयभूत तत्त्व होने से तीनों एक ही है। तीनों की एकता का यही वास्तविक स्वरूप है।

इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी भाई-बहिन का यह कर्तव्य है कि सबसे पहले वह निज भगवान आत्मा को सही रूप में जाने, पहिचाने; उसके जानने-पहिचानने में पूरी शक्ति से लगे।

यद्यपि यह भगवान आत्मा देहदेवल में विराजमान है, तथापि यह देहरूप नही है; देहरूप कभी हुआ भी नहीं है और कभी देहरूप होगा भी नहीं। यह तो इस देह से पूर्णतः असम्पृक्त है, भिन्न है और भिन्न ही रहेगा; क्योंकि देह तो जड़ है, पुद्गलमयी है, अचेतन है, अपवित्र है, नाशवान है और यह भगवान आत्मा चेतन है, ज्ञानानन्दमयी है, परमपवित्र है, और अविनाशी ध्रुवतत्त्व है। इस मलिन देह और परमपवित्र भगवान आत्मा का क्षणिक एकक्षेत्रावगाह संबंध है। एकक्षेत्रावगाह संबंध ही उसे कहते हैं कि जिस संबंध में दो या दो से अधिक पदार्थों का एक आकाश के प्रदेशों में एकसाथ रहना मात्र होता है। जैसे कोई कहे कि मेरा और आपका क्या संबंध है ? उसके उत्तर में मैं कहूँ कि आप भी भारतवासी हैं और मैं भी भारतवासी हूँ, मात्र इतना ही संबंध है, इससे अधिक कुछ नहीं। इसीप्रकार यह आत्मा और यह देह दोनों जन्म से लेकर मृत्यु तक आकाश के एक ही प्रदेशों में एक साथ रहेंगे, इन दोनों में मात्र इतना ही संबंध है, इससे अधिक कुछ नहीं।

मोही जीवों का ऐसा ही स्वभाव होता है कि वे जिसके साथ कुछ दिन रह लें, उसी को अपना मानने लगते हैं। जेल की एक कोठरी में एक साथ रहने वाले दो कैदियों में भी इसप्रकार का संबंध होता है। वैसे तो वे एक दूसरे के कुछ नहीं होते हैं, फिर भी उनमें परस्पर अपनापन हो जाता है, यह सब मोह (मिथ्यात्व) की ही महिमा है।

इसीप्रकार यह आत्मा देह के साथ रहने के कारण देह में ही अपनापन स्थापित कर लेता है, उसे अपना मानने लगता है और उसके प्रेम में पागल जैसा हो जाता है, उसकी साज संभाल में अपना समय, श्रम और शक्ति बर्बाद करता रहता है।

अतः सर्वप्रथम इस अशुचि देह और परमपवित्र भगवान आत्मा के बीच भेदविज्ञान करना चाहिए; देह में से अपनापन तोड़ कर निज भगवान आत्मा में अपनापन करना चाहिए।

जिसप्रकार यह भगवान आत्मा देहदेवल में रहते हुए भी देह से भिन्न है, उसीप्रकार इस भगवान आत्मा में जो मोह-राग-द्वेष के विकारीभाव उत्पन्न होते हैं, उनसे भी यह भगवान आत्मा अन्य है, भिन्न है। ये मोह-राग-द्वेष के परिणाम क्षणिक हैं, विकारी हैं, दुखरूप हैं, दुख के कारण हैं, अशुचि हैं, अध्रुव हैं, विभावभावरूप हैं और यह भगवान आत्मा नित्य है, अविकारी है, सुखरूप है, सुख का कारण है, ध्रुव है, परमपवित्र है और स्वभावभावरूप है। इसप्रकार ये मोह-राग-द्वेष के भाव निज भगवान आत्मा से विपरीत स्वभाव वाले हैं, अतः हेय हैं; इन्हें भी निजरूप जानना, मानना और इनमें रमे रहना आत्मा के अकल्याण का कारण है। अतः इनसे भी अपनापन तोड़कर निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करना चाहिए।

देहादि जडपदार्थों एवं रागादि विकारीभावों से निज भगवान आत्मा को भिन्न जान लेने के उपरान्त पर्यायमात्र से भिन्नता का विचार करना चाहिए; क्योंकि पर्याय चाहे विकारी हो या अविकारी, होती तो अनित्य ही है, क्षणिक ही है। वह अनादि-अनन्त भगवान आत्मा का परिचय देने में समर्थ नहीं हो सकती। निर्मल पर्यायें भी नई नई उत्पन्न होती है, सादि-सान्त है और भगवान आत्मा तो अनादि का है, कभी नाश को प्राप्त होने वाला नहीं है। अतः क्षणिक निर्मल पर्यायें भी अपनापन स्थापित करने योग्य नहीं है। उनके आश्रय से नई निर्मल पर्याय उत्पन्न नहीं होती। नई निर्मल पर्याय तो त्रिकाली ध्रुव निजभगवान आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न होती है; अतः आश्रय करने की दृष्टि से, अपनापन स्थापित करने की दृष्टि से तो एकमात्र निज भगवान आत्मा ही उपादेय है।

यद्यपि निर्मल पर्याय प्रगट करने की अपेक्षा से उपादेय कही गई है, तथापि आश्रय करने की अपेक्षा से तो हेय ही है।

देहादि परपदार्थ न उपादेय है, न हेय है, मात्र ज्ञेय है, जानने योग्य है; क्योंकि उनका ग्रहण-त्याग आत्मा के संभव ही नहीं है। किसी भी पर पदार्थ को ग्रहण करना या छोड़ना किसी भी द्रव्य को संभव नहीं है।

देह को तो इस आत्मा ने आज तक ग्रहण ही नहीं किया है, मात्र उसे अपना जाना है, माना है। जब ग्रहण ही नहीं किया तो उसका त्याग भी कैसे हो सकता है; क्योंकि त्याग तो ग्रहण पूर्वक ही होता है। अतः देहादि पर पदार्थ तो मात्र ज्ञेय ही हैं। रागादि विकारी भाव हेय हैं और निर्मल पर्यायें प्रगट करने की अपेक्षा उपादेय हैं, पर आश्रय करने की अपेक्षा तो एकमात्र त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ही उपादेय है। उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्यायें प्रगट होती है। अतः वहीं परम उपादेय है। उसी की शोध-खोज करने का नाम भेदविज्ञान है।

यद्यपि इस भगवान आत्मा में अनन्त गुण हैं, असंख्य प्रदेश हैं; तथापि उनके लक्ष्य से विकल्प की ही उत्पत्ति होती है; अतः गुणभेद और प्रदेशभेद भी दृष्टि के विषय नहीं है। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का विषय तो पर से, पर्याय से, गुणभेद और प्रदेशभेद से भी भिन्न निज भगवान आत्मा ही है, वही परम उपादेय है, आराध्य है और आराधना का सार भी वही है।

भगवान की दिव्यध्वनि का सार भी वही भगवान आत्मा है। अतः इन पंचकल्याणकों के अवसर पर इस भगवान आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले व्याख्यानों की ही मुख्यता रहना चाहिए; क्योंकि यदि किसी जीव को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होगी तो इस भगवान आत्मा के आश्रय से ही होगी और तभी इस पंचकल्याणक को सम्यग्दर्शन के निमित्त के रूप में स्वीकार किया जा सकेगा।

केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद भगवान श्रीऋषभदेव की, आत्मा के उक्त स्वरूप को स्पष्ट करनेवाली दिव्यध्वनि दिन में तीन-तीन बार खिरती थी और प्रत्येक बार का समय छह घड़ी होता था। एक घडी 24 मिनट की होती है। इसप्रकार कुल मिलाकर 7 घंटे और 12 मिनट प्रतिदिन उनकी दिव्य-देशना होती थी।

विशेष निमित्त मिलने पर कभी-कभी अर्धरात्रि में भी उनकी दिव्यध्वनि खिरती थी, पर वह तो अपवाद ही था। अतः उसकी बात छोड़ भी दें, तो भी 7 घंटे और 12 मिनट तो प्रतिदिन उनका दिव्य उपदेश होता ही था, जिसे सभी श्रोता अत्यन्त रुचिपूर्वक सुनते थे।

ऐसी वह दिव्यध्वनि एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व तक दिन में तीन-तीन बार खिरती रही और लाखों श्रोता प्रतिदिन लाभ उठाते रहे। वह सम्पूर्ण काल केवलज्ञान कल्याणक का ही काल माना जायेगा, जिसे हम आज एक दिन के रूप में मना रहे हैं। इसमें भी आधा दिन तो आहारदान की प्रक्रिया में चला गया, जो तपकल्याणक की ही क्रिया थी।

अब आप एक कल्पना कीजिए कि यदि आज भी कोई तीर्थंकर हो, उसे केवलज्ञान हो जावे और उसकी दिव्यध्वनि दिन में तीन-तीन बार छह-छह घड़ी खिरने लगे और वह भी आपके ही नगर के समीप; तो क्या आप प्रतिदिन उनकी दिव्यध्विनि श्रवण करने जावेंगे ?

इसके उत्तर में आप उत्साहपूर्वक कह सकते हैं कि क्यों नहीं जावेंगे, अवश्य जावेंगे। ऐसा मोका कब-कब मिलता है ? पर मैं कहता हूं कि इतनी जल्दी उत्तर न दीजिए, जरा सोच लीजिए, अच्छी तरह सोच लीजिए, दिन में तीन-तीन बार, प्रत्येक बार छह-छह घडी और प्रतिदिन जाने की बात है। अच्छी तरह समझ लीजिए; प्रतिदिन 7 घंटे और 12 मिनट तक शुद्धात्मा संबंधी व्याख्यान सुनने की बात है। शुद्धात्मा की चर्चा सुनने में है इतनी रुचि आपकी ; जो सब धंधा-पानी छोड़कर इस अरस-अरूपी आत्मा की चर्चा में रस लेंगे? बैठा जायगा लगातार इतना आपसे ? यहां तो एक घंटे में ही ऊबने लगते हैं, बार-बार घड़ी देखने लगते हैं।

इस पर आप कह सकते हैं कि यहां की बात जुदी है और वहां की बात जुदी होगी; क्योंकि यहां तो आप बोल रहे हैं और वहां तो साक्षात् परमात्मा की वाणी होगी; पर सोचने की बात यह है कि भले ही कोई बोले, पर बात तो वही आत्मा की की जा रही है, सर्वज्ञ भगवान की वाणी के अनुसार ही की जा रही है। भले ही हम बोल रहे हों, पर बात हमारी नहीं है, जिनवाणी की है, सर्वज्ञ परमात्मा की है, निज भगवान आत्मा की है। इतनी अरुचि लेकर भगवान आत्मा की बात नहीं सुनी जा सकती। अरुचिपूर्वक सुनने से कुछ भी हाथ नहीं लगता। भले ही साक्षात् परमात्मा से सुने, पर अरुचिपूर्वक सुनने से कुछ भी हाथ नही लगेगा। अत: जिनवाणी तो रुचिपूर्वक ही सुननी चाहिए।

एक बात यह भी तो है कि इस पंचमकाल में साक्षात् परमात्मा तो तुम्हें सुनाने के लिए आने वाले हैं नही और तुम अन्य ज्ञानीजनों से सुन नहीं सकते; इसका तो सीधा-सच्चा यही अर्थ हुआ कि आपका यह भव यों ही

जाना है। अरे भाई, परमात्मा की प्रतीक्षा में समय व्यर्थ मत करो, इस मनुष्य भव का एक-एक क्षण कीमती है, इसमें तो जिस भी ज्ञानी धर्मात्मा से भगवान आत्मा की बात सुनने को मिले, उसे उसी प्रेमभाव से सुनो, जिस प्रेमभाव से परमात्मा की बात सुनना चाहते हो; क्योंकि बात तो उसी परमात्मा की ही है, तुम्हारे आत्मा की ही है। यह तो परम सौभाग्य की बात है कि इस निकृष्टकाल में भी यह उत्कृष्ट बात सुनने को मिल रही है। इसकी उपेक्षा मत करो, अत्यन्त प्रीतिपूर्वक सुनो, तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा।

आचार्य पद्मनंदी तो यहाँ तक लिखते हैं कि :

"तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्।। 1।।

जिनने निज भगवान आत्मा की बात भी अत्यन्त प्रीतिपूर्वक सुनी हो, वे निश्चित ही भव्य हैं और वे शीघ्र ही निर्वाण की प्राप्त करेंगें।"

यह तो महान भाग्य की बात है कि हमें साक्षात केवली परमात्मा से वीतरागी तत्वज्ञान की बात सुनने को मिले, निज भगवान आत्मा की बात सुनने को मिले, पर सभी को सदा यह सौभाग्य कहाँ प्राप्त होता है ? तो क्या सभी अपना कल्याण करने के लिए परमात्मा की साक्षात वाणी सुनने की प्रतीक्षा करते रहेंगे ?

नहीं, कदापि नहीं; परमात्मा की दिव्यध्वनि का सार जहां से भी प्राप्त हो, वहाँ से ही प्राप्त कर अपने कल्याण में प्रवृत्ति करना चाहिए। जिसप्रकार जिनेन्द्र भगवान के साक्षात दर्शन प्राप्त नहीं होने पर हम इन पंचकल्याणकों में प्रतिष्ठित और जिनमंदिरों में विराजमान जिनेन्द्र प्रतिमाओं के दर्शन कर अपना कल्याण करते हैं; उसीप्रकार जिनेन्द्र परमात्मा की वाणी सुनने का साक्षात अवसर प्राप्त न होने पर उनकी वाणी के अनुसार लिखी गई जिनवाणी का स्वाध्याय कर, उसके विशेषज्ञ वक्ताओं से उसका मर्म सुनकर समझकर आत्मकल्याण में प्रवृत्त होना चाहिए। यही मार्ग है।

ये पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव भी यही सन्देश देते हैं कि तुम्हें यदि तीर्थंकर परमात्मा के असली पंचकल्याणक में शामिल होने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ है तो तुम इन पंचकल्याणकों में रुचिपूर्वक लाभ लेकर अपना कल्याण करो। इसीप्रकार जिनप्रतिमा के दर्शन कर एवं जिनवाणी का स्वाध्याय कर अपना कल्याण करो; क्योंकि इस 'पंचमकाल' में न तो तुम्हें

परमात्मा के साक्षात् दर्शन ही मिलने है, न दिव्यध्वनि सुनने का ही साक्षात् लाभ प्राप्त होना है और न तीर्थंकरों के असली पंचकल्याणकों को देखने का अवसर मिलना है। अतः कल्पनालोक में विचरण करना बन्द करके परिस्थिति की नाजुकता को पहिचानों, समय बर्बाद न करो; अन्यथा यह जीवन यों ही चला जायगा, कुछ हाथ नहीं आएगा।

सोचों, जरा गंभीरता से सोचो; समय तेजी से जा रहा है। आज केवलज्ञानकल्याणक तो हो ही गया है, कल मोक्षकल्याणक हो जायगा और सब कार्यक्रम समाप्त हो जावेगा। हम सभी का जीवन भी पल-पल कर समाप्त हो रहा है और हम सब प्रतिक्षण मौत की ओर बढ़ रहे हैं, मृत्यु के मुख में जा रहे हैं। कल भगवान तो यह नश्वर देह छोडकर विदेह हो जावेंगे, उन्हें तो मुक्ति की प्राप्ति हो जावेगी, उनका तो मोक्ष हो जावेगा; परिपूर्ण कल्याण हो जावेगा, इसप्रकार मोक्षकल्याण हो जायेगा और हम सब चार गति और चौरासी लाख योनियो में भटकने के लिए फिर अपनी वहीं पुरानी राह पर चल निकलेंगे।

यदि हमें अपने इस परिभ्रमण को रोकना है, संसारचक्र को तोड़ना है तो स्वयं के उपयोग को स्वयं में जोड़ना होगा, सम्पूर्ण जगत से नाता तोड़ना होगा और स्वयं को जानकर पहिचान कर स्वयं में ही समा जाना होगा- यही एक मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग है - यही भगवान की दिव्यध्वनि का सार है। इसप्रकार यह संक्षेप में केवलज्ञान कल्याणक की चर्चा हुई। इसमें केवलज्ञान (सर्वज्ञता) का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह स्पष्ट किया गया कि सर्वज्ञता तो धर्म का मूल है, उसके समझे बिना तो धर्म का आरंभ ही संभव नहीं है; क्योंकि सर्वज्ञता को समझे बिना सच्चे देव का स्वरूप भी समझ में नहीं आयेगा। इसीप्रकार सर्वज्ञ की वाणी के आधार पर रचित साहित्य को ही शास्त्र कहते हैं। सर्वज्ञ का स्वरूप स्पष्ट हुए बिना शास्त्रों का मर्म भी समझना संभव न होगा। गुरु भी तो उन्हीं को कहते है, जो सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्रों के अनुसार अपनी श्रद्धा बनाते हैं और उन्हीं के अनुसार जिनका आचरण होता है।

अतः यह सुनिश्चित है कि केवलज्ञान का स्वरूप समझे बिना सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप भी समझ में नहीं आयेगा और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप समझे बिना व्यवहार सम्यग्दर्शन भी न होगा। अतः केवलज्ञान का स्वरूप समझना अत्यन्त आवश्यक है।

अब कल मोक्षकल्याणक की चर्चा होगी।

आठवाँ दिन

मोक्षकल्याणक

आज मोक्षकल्याणक का दिन है। पंचकल्याणक महोत्सव का आठवाँ दिन और पंचकल्याणक का पाँचवा दिन। आदिनाथ भगवान का मोक्ष कैलाश पर्वत से हुआ था। अतः यहाँ यह कैलाश पर्वत का दृश्य बनाया गया है। कैलाश पर्वत हिमालय के ही किसी भाग का नाम है। इसीकारण यह पर्वत बर्फीला बनाया गया है।

यद्यपि निर्वाण महोत्सव भी खुशी का महोत्सव है, क्योंकि यह आत्मा की सर्वोच्च उपलब्धि का दिन है; तथापि इस खुशी में चंचलता, खेलकूद, बढ़िया-बढ़िया खानपान आदि को कोई स्थान नहीं है; क्योंकि वह भगवान के संयोग का नहीं, वियोग का दिन है।

अबतक उनकी दिव्यध्वनि का लाभ सभी को प्राप्त हो रहा था। अब सभी भक्तजन इस लाभ से वंचित हो गये हैं। हम उन अयोध्यावासियों की कल्पना करें, जो लोग अबतक भगवान ऋषभदेव की दिव्यध्वनि प्रतिदिन सात-सात घंटे सुनते थे, पर आज सब अनाथ से हो गये हैं। उनकी मनस्थिति में अपने को रखकर हम देखे तो हमें यह आभास हो सकता है कि निर्वाणमहोत्सव का क्या रूप होना चाहिए ?

आज का दिन गंभीर चिन्तन का दिन है, अपने पैरों पर खड़े होने का दिन है, अबतक जो कुछ भी सुना है, समझा है; उसे जीवन में उतारने के संकल्प करने का दिन है।

मोक्ष माने मुक्त होना। दुखों से, विकारों से, बन्धनों से मुक्त होना ही मोक्ष है। मोक्ष आत्मा की अनंत-आनन्दमय अतीन्द्रिय दशा है। अबाधित अनन्त-आनन्दमय होने से मोक्ष ही परमकल्याणकस्वरूप है। इस मोक्ष की प्राप्ति की विधि के प्रदर्शन का ही यह महोत्सव है और इस मोक्ष प्राप्ति के कारण ही गर्भ, जन्म, तप आदि कल्याणस्वरूप माने गये हैं। इस मोक्ष की प्राप्ति के वाँछक होने के कारण ही हम सब मुमुक्षु कहलाते हैं। यह मोक्ष ही

अन्तिम साध्य है, सम्पूर्ण धर्माराधना इस मुक्ति की प्राप्ति हेतु ही होती है।

मुक्ति प्राप्त हो गई, इसकारण ऋषभदेव की सर्व धर्माराधना आज सफल हो गई है, उन्होंने पुरुषार्थ का अन्तिम फल प्राप्त कर लिया है। चार पुरुषार्थों में अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष ही है, उसे प्राप्त कर लेने से उनकी सम्पूर्ण साधना सफल हो गई है। इसी का यह महोत्सव है।

उनकी साधना तो सफल हो गई, पर अभी हमारी और आपकी साधना बहुत शेष है। कुछ लोगों ने तो अभी वह आरंभ ही नहीं की है। कम से कम इस महोत्सव में आने के फलस्वरूप हमें वह साधना आरंभ करने का संकल्प तो करना ही चाहिए। इस बहुमूल्य मनुष्यभव के जो क्षण शेष बचे हैं, उनके सदुपयोग के लिए कुछ समयबद्ध कार्यक्रम तो सुनिश्चित करना ही चाहिए। यदि ऐसे अवसर पर ही हम कुछ संकल्प न कर सके तो फिर कौनसा अवसर आएगा, जो हमें जागृत कर सकेगा, प्रेरित कर सकेगा?

अब हमारा यह महोत्सव समापन की ओर जा रहा है। जो जिनप्रतिमाएं यहाँ प्रतिष्ठित होने आईं थी, वे सब प्रतिष्ठित हो चुकी हैं, भगवान बन चुकी हैं। अब वे प्रतिदिन साक्षात अरहंतदेव के समान ही पूजी जावेंगी। हजारों वर्ष तक भव्य जीव उनके दर्शन-पूजन से सातिशय पुण्य उपार्जित करेंगे।

हम सब भी लौटकर अपने-अपने घर जाने की तैयारी में है। अब यह स्वयं के अन्तर निरीक्षण का समय है। हम स्वयं अपने अन्तर को परखें और इस बात को सुनिश्चित करें कि हम में भी कुछ अन्तर आया है या नहीं, हमारी परिणति भी कुछ निर्मल हुई है या नहीं ?

हम दूसरों को धोखा दे सकते हैं, पर स्वयं को नहीं। हमारा हृदय हमें स्पष्ट बतायेगा कि यहाँ आकर हमने कुछ पाया है या नहीं या फिर जैसे आये थे, वैसे ही वापिस जा रहे हैं ?

एक बार इस ओर भी देख लें कि कहीं ऐसा तो नहीं हो गया है कि हम यहाँ से भी कुछ नया राग-द्वेष लेकर जा रहे हों; क्योंकि 'परदेश कलेश नरेशन को' की सूक्ति के अनुसार आपको कुछ न कुछ असुविधा तो अवश्य हुई होगी। घर जैसी सुविधा इन मेलों-ठेलों में कहाँ संभव है ? हो सकता है आपकी किसी से गर्मागर्मी भी हो गई हो, कहा-सुनी भी हो गई हो; हाथापाई होने की कल्पना करना तो मुझे उचित प्रतीत नहीं होता, पर आपकी गलती से नहीं, किसी और की गलती से ऐसा कुछ हो गया हो तो

क्या आप यहाँ से वैर-विरोध लेकर अपने घर जायेंगे ?

सोचिए जरा, अच्छी तरह सोचिए: क्या आप इसीलिए यहाँ आये थे कि यहाँ से दो-चार नये शत्रु बनाकर ले जावेंगे ? शत्रुओं की कमी तो आपके आस-पास भी न होगी, यहाँ से तो कुछ पवित्र संकल्प लेकर जाइये, प्रतिदिन स्वाध्याय करने का संकल्प लेकर जाइये, प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव के दर्शन-पूजन करने का संकल्प लेकर जाइये: संयमी नहीं तो कुछ सदाचारी बन कर जाइये--यह वह निधि होगी जो भव-भव में आपके काम आयेगी, भव का अभाव करने के काम आयगी। यदि भव-भव में न भटकना हो तो यही एक मार्ग है।

यदि आप थोड़ा भी अन्तर में झाकेंगे तो यह भी समझ में आ जायेगा कि आपने यहाँ आकर अकेले पंचकल्याणक के दृश्य ही नहीं देखे हैं, अकेले प्रवचन ही नहीं सुने हैं: कार्यक्रमों और प्रवचनों से बीच-बीच में गोल होकर बाजारों के चक्कर भी लगाये हैं और अनेक प्रकार की खरीददारी भी की है; पर जरा ध्यान से देख लीजिएगा कि वह सब भोगसामग्री ही है न ? वह हमारे विषय-कषाय के पोषण में ही काम आयेगी न ?

क्या आप इसी को खरीदने यहाँ आये थे ? क्या आप अपने घर जाकर घरवालों को, मिलनेवालों को, मित्रों को, रिश्तेदारों को यही सब प्रसादी के रूप में देंगे और यही सुनायेंगे सबको कि व्यवस्था में क्या-क्या गड़बड़ी थी और आपका किस-किस से लड़ाई-झगड़ा हुआ, आपने कैसी-कैसी खरी-खोटी सुनाई, या फिर क्या-क्या देखा है नगर में, बाजार में या यहाँ-वहाँ?

क्या आप कुछ ऐसा भी ले जा रहे हैं, जो भगवान के पंचकल्याणकों में से ले जाना चाहिए: जिससे आपके परिवार वाले भी पंचकल्याणक का लाभ ले सकें, रिश्तेदार, मित्रगण और मिलनेवाले भी पंचकल्याणक का लाभ ले सकें ?

क्या आप कुछ ऐसा समझकर भी जा रहे हैं, सीखकर भी जा रहे हैं: जो अपने परिवारवालों को, मित्रों को, मिलनेवालों को व रिश्तेदारों को समझा सकें, सिखा सकें और उन्हें भी आत्मकल्याण करने के लिए प्रेरित कर सके ?

अन्तर से उठे इन प्रश्नों का उत्तर यदि 'हाँ' में आवे तो हम आपको धन्यवाद देना चाहेंगे और यदि 'ना' में आवे तो एक सलाह देना चाहेंगे कि

अभी कुछ नहीं बिगड़ा है, अभी आप निकल थोड़े ही गये हैं, अभी तो आप यहीं है और प्रवचन सुन रहे हैं; अतः आप अब भी चेत सकते हैं और कुछ ऐसा ले जाने की सोच सकते हैं कि जो आत्मकल्याण का सीधा निमित्त हो।

यदि आप इस संदर्भ में मेरा सहयोग चाहें, मेरी सलाह चाहें तो मैं आपसे कहूँगा कि जो बात भगवान की दिव्यध्वनि में आई है, उसका प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों को ले जाइये, जिनवाणी माता को ले जाइये; यदि आपको विद्वानों के प्रवचन अच्छे लगे हों तो, उनके कैसेट ले जाइये और अपने रिश्तेदारों को दीजिए, मित्रों को दीजिए, मिलने वालों को दीजिए और परिवारवालों को भी दीजिए; जिससे जिनवाणी के स्वाध्याय और प्रवचनों के सुनने का लाभ वे भी उठा सकें, अपना जीवन सुधारने के लिए वे कुछ प्रेरणा प्राप्त कर सकें, वे भी अपना भावी जीवन सुधारने की कुछ योजना बना सकें।

आप अपने मित्रों, रिश्तेदारों, मिलने वालों और घरवालों को देने के लिए कुछ न कुछ ले तो अवश्य जायेंगे; पर जरा सोचिए कि यदि आप ऐसी कोई वस्तु ले गये, जो उनके दैनिक भोगोपभोग के काम आवे तो उनके उस भोगोपभोग के पाप के कुछ हिस्सेदार आप भी न बनेंगे क्या ?

मान लीजिए कि आप उनके लिए जूते-चप्पल ले गये तो वे प्रतिदिन उनके पैरों की ठोकर खायेंगे; यदि आप पीकदान ले गये तो आपके पीकदान को प्रतिदिन उनके थूकने को झेलना होगा। इसीप्रकार आप और भी कल्पना कर सकते हैं। पर यदि आपने उन्हें शास्त्र भेंट किये तो उनके स्वाध्याय के अतिरिक्त और वे कर ही क्या सकते हैं, यदि प्रवचनों के कैसेट ले गये तो उन्हें सुनने के अतिरिक्त वे क्या कर सकेंगे ? यदि उन्होंने शास्त्रों का स्वाध्याय किया, कैसेट सुने तो आपकी दी हुई भेंट उनके ज्ञानवृद्धि में निमित्त बनेगी।

मैं तो कहता हूँ कि किसी भी अवसर पर किसी को कुछ भेंट देना हो तो जिनवाणी ही देना चाहिये, हम किसी के भोगों में निमित्त क्यों बने ? हमें तो उसके स्वाध्याय में निमित्त बनना चाहिए; क्योंकि यदि आप नहीं देंगे तो भी वे भोगसामग्री तो स्वयं भी खरीदेंगे, पर शास्त्र शायद ही खरीदें; अतः जिनवाणी देना ही श्रेयस्कर है।

फिर भी यदि आप प्रत्येक अवसर पर इसप्रकार की भेंट देने में असमर्थ हों तो भी इस अवसर पर तो भोगसामग्री देना किसी भी प्रकार ठीक नहीं

है। इस अवसर पर तो ज्ञानसामग्री ही दी जानी चाहिए। आप सोच लीजिए, अच्छी तरह सोच लीजिए; जल्दी की कोई बात नहीं है, हड़बड़ी की भी कोई बात नहीं है। शान्ति से, गंभीरता से सोच-विचार कर निर्णय लीजिए।

हाँ, एक बात जो आपसे पहले भी कही थी कि आप अपने घर जाकर यहाँ के जो अनुभव सुनावेंगे, उनके बारे में भी कुछ विचार कर लेना जरूरी है।

व्यवस्थागत कमजोरी के कारण आपको जो परेशानी हुई है, उसे बढ़ाचढ़ाकर सुनाकर आप क्या भला करेंगे अपने मित्रों का, घरवालों का; क्योंकि उसे सुनकर तो वे यही संकल्प करेंगे कि हम तो ऐसे पंचकल्याणकों में कभी नहीं जावेंगे। क्या आप यही चाहते हैं कि आपके परिवार वाले, मित्र और रिश्तेदार धार्मिक कार्यों में शामिल ही न हो, नित्य पाप के कार्यो में ही लिप्त रहें ? नहीं तो फिर उन साधारण परेशानियों को बढ़ाचढ़ाकर कहकर आप क्या करना चाहते हैं ? न सही बढ़ाचढ़ाकर पर, आप सुनाना ही क्यों चाहते हैं, उससे आपको क्या लाभ नजर आता है ?

आपको जो आध्यात्मिक लाभ मिला है, जो कुछ अच्छा दिखाई दिया है; यदि उसे रस ले-लेकर सुनायेंगे तो भविष्य में इसप्रकार के कार्यक्रमों में भाग लेने की प्रेरणा उन्हें भी मिलेगी और आपका उपयोग भी निर्मल रहेगा। इस जगत में बुराइयों की तो कमी नहीं है, सर्वत्र कुछ न कुछ मिल ही जाती है; पर बुराइयों को न देखकर अच्छाइयों को देखने की आदत डालनी चाहिए। अच्छाइयों की चर्चा करने का अभ्यास करना चाहिए। अच्छाइयों की चर्चा करने से अच्छाइयाँ फैलती है और बुराइयों की चर्चा करने से बुराइयाँ फैलती हैं। अतः यदि हम चाहते हैं कि जगत में अच्छाइयाँ फैलें तो हमें अच्छाइयों को देखने-सुनने और सुनाने की आदत डालनी चाहिए। चर्चा तो वही अपेक्षित होती है, जिससे कुछ अच्छा समझने को मिले, सीखने को मिले।

आप यहाँ से जब वापिस जायेंगे और घर पहुंचेगें, तब आपका जो व्यवहार होगा, जीवन होगा; चित्त की जैसी वृत्ति होगी, प्रवृत्ति होगी; उसी को देखकर घरवाले, परिवारवाले, मुहल्लेवाले यह निर्णय करेंगे कि पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं में जाने के क्या लाभ हैं और क्या हानि है ?

अतः अपने व्यवहार को सुधारने का उत्तरदायित्व आज हम सब के कंधों पर है; क्योंकि न केवल हमारा भविष्य ही इस पर निर्भर करेगा, अपितु हमारी भावी पीढ़ियों का भविष्य भी इससे जुड़ा हुआ है। यदि हम चाहते है कि हमारी भावी पीढ़ियों में भी धार्मिक संस्कार रहें तो हमें अपने जीवन को संयमित करना होगा, सुव्यवस्थित करना होगा; क्योंकि भावी पीढ़ी जितना अपने पूर्वजों के आचार-व्यवहार को देखकर सीखती है, कहने-सुनने मात्र से उसका शतांश भी उनके जीवन में नहीं आता।

मैंने आरंभ के दिनों में ही आपसे कहा था कि आप जब यहाँ से वापिस जायें तो कुछ शान्त होकर जायें, सदाचारी होकर जायें, स्वाध्याय का संकल्प लेकर जायें, जगत से निवृत्ति और आत्मा में प्रवृत्ति का संकल्प लेकर जावें।

मात्र दूसरे के कल्याण के लिए नहीं, मूलतः तो यह सब अपने कल्याण के लिए करना है। हमारे शुद्ध-सात्विक जीवन को देखकर यदि दूसरे भी कल्याण के मार्ग पर लग जावें तो बहुत अच्छी बात है; यदि न भी लगे, तो हमें दूसरों से क्या लेना-देना है ? पर के कल्याण के विकल्प में भी अधिक उलझना अच्छी बात नहीं है। मूल बात तो अपने स्वयं के कल्याण करने की ही है।

अब अपना जीवन भी कितना शेष है ? यह बहुमूल्य मानव जीवन यों ही जा रहा है। जो जी लिया, सो जी लिया; पर भविष्य की क्या गारंटी है ? हो सकता है दश-बीस वर्ष और भी जी जावे, पर यह भी तो हो सकता है कि अगले क्षण ही यह क्षणभंगुर जीवन समाप्त हो जावे। अतः एक-एक क्षण कीमती है।

कुछ नई उम्र के लोग सोच सकते है कि हम तो अभी बालक ही हैं, युवक ही हैं; हमें तो अभी बहुत जीना है; पर भाई, इस मानव जीवन में युवकों की आयु का भी क्या भरोसा है ? आज के संयोगों में तो यह अस्थिरता और भी अधिक बढ गई लगती है। अतः बूढे-बच्चों, युवक-युवतियों सभी को आत्मकल्याण के कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए।

इन पंचकल्याणकों जैसे पावन अवसरों से भी यदि हम कुछ न सीख सके तो फिर ऐसे कौन से अवसर आवेंगे, जो हमें आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर करेंगे? अधिक क्या कहें, जिनके संसार-सागर का किनारा समीप आ गया होगा, वे इतने से ही समझ जावेंगे; पर अभी जिनका संसार बहुत

बाकी है, उनसे कितना ही कहो, उन पर कुछ भी असर होने वाला नहीं है; अतः अधिक प्रलाप से क्या लाभ है।

सभी आत्मार्थीजन इस पंचकल्याणक प्रसंग से अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करें - इस मंगल भावना से इस पंचकल्याणक कथा से विराम लेता हूँ। ओम् शान्ति., शान्तिः शान्ति।

सत्य की प्राप्ति और सत्य का प्रचार

सत्य की प्राप्ति और सत्य का प्रचार दो अलग-अलग चीजें हैं। सत्य की प्राप्ति के लिए समस्त जगत से कटकर रहना आवश्यक है। इसके विपरीत सत्य के प्रचार के लिए जनसंपर्क जरूरी है। सत्य की प्राप्ति व्यक्तिगत क्रिया है और सत्य का प्रचार सामाजिक प्रक्रिया। सत्य की प्राप्ति के लिए अपने में सिमटना जरूरी है और सत्य के प्रचार के लिए जन-जन तक पहुंचना।

साधक की भूमिका और व्यक्तित्व द्वैध होते हैं। जहाँ एक ओर वे आत्म-तत्व की प्राप्ति और तल्लीनता के लिए अन्तरोन्मुखी वृत्ति वाले होते हैं, वहीं प्राप्त सत्य को जन-जन तक पहुंचाने के विकल्प से भी वे अलिप्त नहीं रह पाते हैं।

उनके व्यक्तित्व की यह द्विविधता जनसामान्य की समझ में सहज नहीं आ पाती। यही कारण है कि कभी-कभी वे उनके प्रति शंकाशील हो उठते हैं।

यद्यपि उनकी इस शंका का सही समाधान तो तभी होगा, जबकि वे स्वयं उक्त स्थिति को प्राप्त होंगे; तथापि साधक का जीवन इतना सात्विक होता है कि जगत-जन की वह शंका अविश्वास का स्थान नहीं ले पाती।

-सत्य की खोज, पृष्ठ 135

प्रस्तुत प्रकाशन की कीमत कम करनेवाले दातारों की नामावली

	रु.
श्री केशरीमल पूनमचंद सेठी चैरिटेबल ट्रस्ट, दिल्ली	1101
स्व श्री ताराचंदजी गंगवाल, जयपुर	1001
श्रीमती भंवरीदेवी छाबड़ा, सीकर	501
श्री मांगीलालजी पदमचंदजी पहाड़िया, इन्दौर	501
श्री माणकचंदजी हीरालालजी पाटौदी, लोहारदा	501
श्री झूमरमलजी पांड्या, गौहाटी	501
श्री सोहनलालजी जैन, जयपुर	501
श्रीमति पुष्पा बेन ध. प. श्री अजितकुमारजी जैन, छिंदवाड़ा	501
श्री भूपेन्द्र प्लास्टिक, मद्रास	501
श्री झमकलालजी हीरालालजी बड़जात्या, रतलाम	301
श्री मदनलालजी जैन, भोपाल	301
श्री मनोहरलालजी काला, इन्दौर	251
श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	201
श्रीमती कंचनबेन ध.प. श्री नेमीचन्दजी पाटनी, आगरा	201
श्रीमती तेजकंवर बाई ध. प. श्री उम्मेदमलजी बड़जात्या, बम्बई	201
श्रीमती कमला भारिल्ल ध. प. श्री रतनचन्दजी भारिल्ल, जयपुर	101
श्री ऋषभकुमारजी एवं श्री ध्रुवकुमार जी जैन, जयपुर	101
ब्र. शारदा बेन, सोनगढ़	101
ब्र. चन्द्रा बेन, सोनगढ़	101
श्री प्रेमचन्दजी संघी, जयपुर	101
ब्र. ताराबेन खेमराजजी, खैरागढ़	101
श्री ए.के. जैन, इंजीनियर, अहमदाबाद	101
श्रीमती शकुन्तला देवी ध. प. श्री जवाहरलालजी, जयपुर	101
श्रीमती पदमावती बाकलीवाल, जयपुर	101
श्रीमती संतोष कंजोलिया, जयपुर	101
ब्र. कल्पना बेन, जयपुर	101
श्री टोडरमल महाविद्यालय, जयपुर शास्त्री, तृतीय वर्ष सत्र 1990-91	101
श्री राजेशजी जैन शास्त्री, विदिशा	51
श्री जमनमलजी सेठी, इम्फाल	1101
श्रीमती धापूदेवी गंगवाल ध. प.	
दिग. जैन स्वाध्याय मंडल, कानपुर	754
श्रीमती भंवरीदेवी गंगवाल सुपुत्री स्व. श्री ताराचंदजी गंगवाल, जयपुर	501
श्री अनिलकुमारजी शास्त्री, भिण्ड	501
श्रीमति कुसुमलता पाटनी, छिंदवाड़ा	501
श्रीमती पताशीदेवी ध.प. श्री जयचन्दलालजी, गौहाटी	501
श्री शांतिनाथजी सोनाज, अकलूज	501
श्री चिरंजीलालजी जैन, जयपुर	501
श्री शांतिलालजी पाटनी, रतलाम	3[illegible]
श्री रतनलालजी सोगानी, भोपाल	301
श्री जे. लालचन्दजी, इन्दौर	251
श्रीमती मैना जैन, जयपुर	251
ब्र. कंचनबेन, सोनगढ़	251
श्रीमती गंगाबाई मातु श्री ब्र. अभिनन्दनकुमारजी शास्त्री, जयपुर	201
ब्र. जस्सीबेन, सोनगढ	151
श्री सुरेशचन्दजी जैन, जयपुर	111
श्रीमती गुणमाला ध. प. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर	101
श्रीमती अध्यात्मप्रभा जैन ध. प. श्री विपिनकुमारजी शास्त्री, बम्बई	101
श्रीमती चमेलीबाई ध. प. श्री माखनलालजी बन्दी, सागर	101
ब्र. शारदा बेन, सोनगढ़	101
ब्र. जमनाबेन, सोनगढ़	101
श्रीमती चंदाबाई, अध्यापिका, जयपुर	101
श्री कपूरचन्दजी जैन, उनियारावाले	101
श्री हुकमचन्दजी टोंग्या, जयपुर	101
श्रीमती सौभागमलजी बोहरा, जयपुर	101
ब्र. यशपालजी जैन, जयपुर	101
श्री सुमतिलालजी खासगीवाल, इंदौर	101
श्रीमती कंचनबेन, जयपुर	101
श्री विद्यार्थी महाराष्ट्र मण्डल, जयपुर	101
श्री अमोलकचन्दजी संघी, जयपुर	101
श्री राजकुमारजी बड़जात्या, जयपुर	51
कुल योग	15572